मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति की नैतिक शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन (आधुनिक प्रासंगिकता के विशेष परिप्रेक्ष्य म)

डॉ0 ममता,

प्रवक्ता–संस्कृति विभाग,
लक्ष्मी देवी राजेन्द्र सिंह यादव महाविद्यालय,
उसरगाँव, कालपी (जालौन,उ0प्र0)

प्राचीन काल का गौरवमयी इतिहास जो हमारी धरोहर है, हमें विश्व की प्राचीन संस्कृति का दर्जा देते हैं। हमारे उपनिषदों ने हमें 'वसुधैव कुटम्बकम' अर्थात् सारा संसार मेरा परिवार है सिखाया है। इसके बावजूद हम कभी धर्म, कभी क्षेत्र, जाति व यहाँ तक भाषा के नाम पर लड़ते हैं। मस्जिद, मन्दिर व अन्य धार्मिक स्थान गरीबी, महामारी, कुपोषण, बेरोजगारी, सामाजिक अन्याय व अकाल से भी बड़े मुद्दे हैं। हमें आज दुःखातुर पड़ोसियों व अपने देशवासियों की पीड़ा भी महसूस नहीं होती। हमारे नैतिक मूल्य धर्मान्धता व सांप्रदायिकता की भेंट चढ़ चुके हैं। भारतीय आध्यात्मिकता व पतंजलि का अपरिग्रह जैसे आदर्श जो त्याग पर आधारित थे, आज कोई महत्व नहीं रखते।''[1] शिक्षा व मूल्यों के बीच खाई बढ़ती जा रही है। येन–केन प्रकारेण स्वार्थसिद्धी सबसे बड़े नैतिक–मूल्य बन गए हैं। वर्तमान काल में धर्म राजनीति का अखाड़ा बन गया है। बड़े–बड़े धर्माचारी व मठाधीश जिन्हें त्याग व समर्पण का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए आज अकूत संपत्ति के मालिक हो गए हैं एवं भ्रष्टाचार में लिप्त पाए जाते हैं। यह विडंबना नही तो और क्या है। अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही आज परम धर्म बनता जा रहा है। दुनिया का कोई धर्म आपस में बैरभाव रखना नहीं सिखाता किन्तु आज धार्मिक उपदेश किताबों व अनुष्ठानों तक ही सीमित रह गए हैं।

नैतिक शिक्षा की अवधारणा

सर्वपल्ली डॉ0 राधाकृष्णन ने कहा था कि ''भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है। यदि शिक्षण का अर्थ हृदय और आत्मा की अवहेलना है तो उसको पूर्ण नहीं माना जा सकता.....'' इस दृष्टि से देखें तो किसी भी व्यक्ति का व्यवहार उसके मूल्यों का प्रतिबिम्ब होता है। मूल्यविहीन जीवन ,अर्थहीन जीवन के समान है। मूल्य–निर्माण में समाज व परिवेश का अद्वितीय स्थान प्राप्त है चूँकि व्यक्ति समाज–निरपेक्ष होकर जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। इस सम्बंध में प्रसिद्ध विद्वान् इमाईल दुर्खीम (इमाईल दुर्खीम, मोरल एजूकेशन) का मानना है कि ''समाज का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण ताने–बाने में झलकता है। उसका भीतरी और बाहरी व्यवहार समाज की सामूहिक चेतना को दर्शाता है।'' इसलिए अनेक विचारकों ने समाज को नैतिक शक्ति माना है। नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को बच्चे की पाठ्यचर्या का अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र माना गया है, सम्भवतः यह आज समूचे भौतिक विकास से भी अधिक महत्वपूर्ण है। यह विकास उन मानव–मूल्यों का प्रकार्य है जिनके अभाव में कोई भी सामाजिक अन्योन्य क्रिया असम्भव होगी स्पष्टतः मूल्य शिक्षा के बिना स्वयं शिक्षण–प्रक्रिया

ही अर्थहीन तथा अप्रासंगिक रह जाएगी। इसी लक्ष्य को आधार मानकर 12 सितम्बर, 2002 (जनहित याचिका पर निर्णय) के अपने ऐतिहासिक फैसले में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने नैतिक–मूल्य सम्बन्धी शिक्षा को समय की आवश्यकता बताया है।

महान् दार्शनिक प्लेटो (प्लेटो, दि रिपब्लिक) ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए लिखा है–''शिक्षा से अभिप्रायः उस प्रशिक्षण से है जो अच्छी आदतों के द्वारा बच्चों में अच्छी नैतिकता का विकास है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी(महात्मा गाँधी, सत्य के साथ प्रयोग) के शब्दों में –''शिक्षा के सम्पूर्ण कार्य को एक ही शब्द में प्रकट किया जा सकता है और वह शब्द है, नैतिकता''। अर्थात् नैतिकता व नैतिक शिक्षा वह आधरभूत तत्व है जिसके बिना शिक्षा को अपूर्ण कहा जा सकता है। आज संसार जिस तीव्र गति से प्रगति कर रहा है उस रफतार से यदि किसी चीज में सर्वथा गिरावट आई है तो वह है नैतिक–मूल्यों एवं नागरिक–बोध में आता तीव्र क्षरण। सम्पूर्ण विश्व प्रगति के कई मानक स्थापित कर चुका है। किन्तु सम्पूर्ण मानवता हेतु स्वमेव कई भस्मासुर भी निर्मित कर चुका है। इसमें प्रमुख हैं–परमाणु आयुधों का निर्माण, पर्यावरण संकट, आतंकवाद, हिंसा व वैमनस्य इत्यादि। कुल मिलाकर आज समस्त मानव जाति विध्वंसकारी ताकतों के निशाने पर है। शांति, सद्भाव, सहिष्णुता, सच्चाई, सादगी व स्वच्छता जैसे बुनियादी मूल्य आज उपरोक्त संकटों से जूझ रहे हैं। इस सम्बन्ध में महान दार्शनिक रॉस के ये शब्द सारगर्भित हैं–'' आज आधिकाधिक विचारशील लोगों को यह विश्वास हो गया है कि यदि हम शिखा द्वारा उच्च कोटि की सभ्यता का निर्माण करना और उसको बनाए रखना चाहते हैं एवं कुछ समय के बाद होने वाली पशुता के प्रदर्शन से इसकी रक्षा करना चाहते हैं तो शिक्षा को नैतिकता पर आधारित किया जाना आवश्यक है।'' अतः यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य के नैतिक पक्ष का विकास किये बिना अन्य पक्षों का विकास कर दिया जाएगा तो वह और भी अधिक खतरनाक होगा। क्योंकि शिक्षित मनुष्य विज्ञान व प्रौद्योगिकी का प्रयोग विनाश के लिए कर लेगा इसलिए नैतिकता व मूल्य रहित शिक्षा से तो अशिक्षा ठीक है।''[2]

आज हम नैतिक–मूल्यों व सद–आचरण से दूर जा चुके हैं। जिसका उदाहरण आए दिन बढ़ते अपराध हैं। जिनकी खबर हम अपहरण, हत्या, डकैती, बलात्कार के रूप में रोज पढ़ते हैं। बेशक हम महाशक्ति के रूप में उभर रहे हैं किन्तु हमारा चारित्रिक पतन होता जा रहा है। इस सन्दर्भ में मुख्य चुनाव आयुक्त का यह विचार साधारण नहीं है पूर्व जब उन्हें कहना पड़ा भारतीय राजनीति एक असाध्य कैंसर बन चुकी है।

प्राचीन भारतीय विद्वान मानते थे कि समुचित नैतिक भावना और चरित्र के अभाव में मात्र बौद्धिक उपलब्धियों का कोई महत्व नहीं है। उनकी दृष्टि में सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज थी–सदाचार, अर्थात् आचार ही उनके लिए परमधर्म था– ''आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मृति एव च''[3]

मनुस्मृति में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति कम ज्ञानवान हो पर सदाचारी हो, तो वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है जो विद्वान तो है पर दुराचारी है। सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयंत्रितः। नायंत्रितस्त्रिवेदोऽपि सवर्सशी सर्वविक्रयः।।''[4]

वस्तुतः यदि शिक्षा छात्रों के भावी जीवन की समस्याओं के बुद्धिमत्तापूर्ण विश्लेषण व निर्णय करने का प्रशिक्षण नहीं दे पाती तो यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य का तिरस्कार कर रही है। प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं स्मृतियों में मूल्यों को मुख्यतः चार पुरूषार्थों के रूप में लिया गया है, ये चार पुरूषार्थ हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से धर्म अत्यन्त

व्यावहारिक एवं प्रमुख मूल्य है। धर्म अपने आपमें असंख्य गुणों का समुच्य है, इन्हें निम्नलिखित रूप में प्रतिपादित किया गया है''[5] अर्थात् –धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शुचिता, इन्द्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण हैं। महाभारत के शांति पर्व में इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है, सपतप धर्म यही है कि आदमी सत्य बोले, दान दे, तप करे, शुचिता का पालन करे, संतोष रखे आदि। महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है कि समस्त प्राणियों के साथ मन, कर्म और वाणी इन तीनों से द्रोह न रखना, अनुग्रह भाव रखना और सबको कुछ–न–कुछ देने का भाव रखना, यही सज्जन का स्वभाव है और यही सद्व्यवहार है। इसी अनुरूप राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्तेय व बुरा न बोलना, बुरा न सुनना व बुरा ना देखने को परम् नैतिक–मूल्य मानते थे, वे वैष्णवजन व वैष्णव गीत में आस्था रखते थे एवम् प्रार्थनाओं में सदैव इसका गायन किया करते थे–

''वैष्णवजन तो तेणे कहिये, जे पीर पराई जाणे रे। पर दुखैः उपकार करे तोर मन अभिमान न आणे रे।।''

बौद्ध–धर्म में अष्टांग मार्ग द्वारा नैतिक मूल्यों का संपोषण किया गया। जैन धर्म द्वारा अहिंसा, किसी को कष्ट न पहुँचाना, जियो और जीने दो, शांति बंधुत्व, सदाचार, शाकाहार इत्यादि को प्रमुख मूल्य माना गया। ईसाई धर्म ने भी सत्य, अहिंसा, भाईचारा, दूसरों की गलतियों को क्षमा करना, परहित इत्यादि मूल्यों का अपलम्बन करके सामाजिक शांति की स्थापना की परिकल्पना पेश की। इस्लाम धर्म द्वारा समानता और भाईचारे का संदेश दिया गया। विश्व के प्रत्येक धर्म ने सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों व शिक्षा को मानवीय सृष्टि का आधार माना है।''[6]

वस्तुतः शिक्षा के केन्द्र में नैतिक एवम् सामाजिक(नागरिक शिक्षा व बोध) मूल्यों का विकास होना चाहिए था परन्तु वर्तमान पनिस्थितियों में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक बार कहा था – अब तक हम पिंजरे की सजावट में लगे रहे परन्तु भीतर का पक्षी भूखा ही रहा, यह बात इतने वर्ष बाद आज भी सत्य है। डॉ0 जाकिर हुसैन का भी यह मत था – हमें प्राविधिक के लिए नैतिकता का बलिदान नहीं देना चाहिए, अपितु प्राविधिक को इस भाव तथा पर्यावरण में प्रस्तुत करना चाहिए ताकि वह उच्च मानव मूल्यों को शक्तिशाली व मजबूत करने का साधन बन जाये। नैतिक–मूल्यों की गिरावट नागरिक–बोध के ह्रास, समाज में बढ़ते अपराध और घटती मर्यादाओं को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः एक मशहूर उर्दू शायर ने कहा है – सभी कुछ हो रहा है इस तरक्की के जमाने में, मगर क्या गजब है आदमी इंसा नहीं होता।

इस सम्बंध में गत सदी के महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन के विचार थे–''मेरे मत से विद्यालय के लिए वह सबसे दुःखदायी समय होता है जब उसे भय, त्रास और कृत्रिम प्रभुत्व का आश्रय लेना पड़ता हो। इस प्रकार के व्यवहार से विद्यार्थियों के कोमल मन को ठेस पहुँचती हैं, उनकी भावनाएँ और आत्मविश्वास नष्ट हो जाते हैं। ऐसे परिवेश में छात्र दब्बू ही बनेंगे।.....जबकि विद्यालय और जीवन में कार्य का एक लक्ष्य होता है– कार्य करने में आनन्द की अनुभूति, उसके फल या परिणाम में आनन्दनुभुति और समाज के प्रति मूल्यों का योगदान और उनकी उपादेयता को समझना। मनुष्य को विशेषज्ञता प्रदान करना ही पर्याप्त नहीं है, यह उसे एक प्रकार की उपयोगी मशीन मात्र तो बना सकती है परन्तु एक सन्तुलित समन्वित विकसित व्यक्तित्व नहीं दे पाती, जीवन–मूल्यों को जानना और उनके लिए एक जीवन भाव प्रवणता को पालना विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसे सौन्दर्य की व्यापकता और नैतिकता का आधार ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा उसका विशिष्ट ज्ञान उसे

संतुलित व्यक्तित्व प्रदान करने के स्थान पर एक प्रशिक्षित जानवर के समकक्ष रख देगा।''[7] इस सम्बंध में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग(1964–66) ने माना है – विद्यालयी पाठ्यक्रम का एक गंभीर दोष है – सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य शिक्षा की अनुपस्थिति। यदि हम अपनी शिक्षा संस्थाओं से नैतिक शिक्षा व आध्यात्मिक प्रशिक्षण को निकाल देंगे तो हम अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास के विरूद्ध कार्य करेंगे।

वर्तमान युग की आपाधापी, तनाव एवं भाग दौड़ भरी जिन्दगी ने मानव की सहनशीलता को समाप्तकर उसमें एक प्रकार की आक्रामकता का संचार किया है। यही कारण है कि नैतिक शिक्षा प्रदान करना आज और भी प्रासांगिक हो गया है। शान्ति की अवधारणा जिन आधारभूत तत्वों पर अवस्थापित हैं उनमें संस्कार, संस्कृति, नैतिक मूल्य, आचरण की शुद्धता, सहअस्तित्व, सकारात्मक दृष्टिकोण एवं विकास प्रमुख है।

किसी राष्ट्र, समाज एवं परिवार की उन्नति का आधार शिक्षा को माना जाता है। शिक्षा से ही समाज की प्रगति एवं संस्कृति को एक दिशा मिलती है तथा देश की बौद्धिक क्षमता एवं समृद्धि का आँकलन किया जाता है। शिक्षा के महत्व को आधुनिक युग में ही स्वीकार नही किया गया है बल्कि शिक्षा आदिकाल से ही विभिन्न रूपों में विद्यमान एवं महत्वपूर्ण थी। वैदिक एवं पूर्व वैदिक काल में भी शिक्षा उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी आज है। परन्तु वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में शिक्षा सर्व सुलभ नहीं थी। शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार केवल ब्राहमणों, राजाओं, राजपुत्रों एवं समाज के प्रभावशाली लोगों की संतानों को ही प्राप्त था। वर्ण व्यवस्था के रहते षिक्षा–दीक्षा एवं व्यवसाय के क्षेत्र निर्धारित थे। शिक्षा और व्यापार का अधिकार निश्चित परिधि में बंधा था। आधुनिक युग के समान शिक्षण संस्थानों की जगह ऋषि मुनियों के आश्रम, गुरुकुल एवं देवालय ही शिक्षा का केन्द्र हुआ करते थे। शिक्षा के उद्देश्य भी सीमित थे। राजाओं, शासकों एवं राज परिवार के लोगों को शास्त्र, शस्त्र, राजनीति तथा शासन चलाने के गुर सिखाना ही शिक्षा का उद्देश्य हुआ करता था। आश्रमों एवं गुरुकुलों को शासक वर्ग का संरक्षण एवं प्रश्रय प्राप्त होता था। गुरुओं का विशेष सम्मान होता था। शिक्षालयों में न तो कोई राजनैतिक हस्तक्षेप होता था और न ही कोई राजकीय बाध्यता थी।

भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है लेकिन शिक्षा का अभाव है। बहुपयोगी संचार माध्यमों के द्वारा शिक्षा का प्रचार प्रसार प्रभावी ढ़ंग से किया जा सकता है। सरकारी योजनाओं की जानकारी जन–जन तक पहुँचाने तथा जन समस्याओं को शासन तक पहुँचाने तथा समस्त विश्व में हो रही घटनाओं, गति विधियों, सामाजिक परिवर्तनों को प्रसारित करने का उत्तरदायित्व संचार माध्यम भली भाँति कर रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे अविष्कार, नये नये प्रयोग और उपलब्धियों को संचार माध्यम प्रसारित कर रहे हैं। शिक्षा के विकास में दूर संचार माध्यमों का योगदान सराहनीय है। शिक्षा के प्रचार प्रसार में पुस्तकों, पत्र पत्रिकाओं के अलावा दूरदर्शन के शैक्षिक कार्यक्रम, कम्प्यूटर, इन्टरनेट, ब्राडबैन्ड का युग आ चुका है। जिनके माध्यम से हर विषय पर वृहद वैश्विक जानकारी उपलब्ध हो रही है। शैक्षिक प्रौद्योगिकी एवं सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ने शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा किये उसके फलस्वरूप दूरस्थ शिक्षा, पत्राचार शिक्षा एवं मुक्त शिक्षा प्रणाली को बल प्रदान किया। पत्राचार शिक्षा में शिक्षार्थियों को डाक प्रणाली द्वारा मुद्रित पाठ्य सामग्री, विषय वस्तु से सम्बन्धित सूचनाएँ प्रेषित की जाती हैं। वहीं दूरस्थ शिक्षा में डाक–प्रणाली के साथ–साथ, रेडियो, दूरदर्शन, कम्प्यूटर, इन्टरनेट, ब्राडबैन्ड, फैक्स, ई–मेल आदि प्रौद्योगिकी आधारित माध्यमों का प्रयोग किया जाता है। स्कूल कालेजों में उपस्थिति की

अनिवार्यता सीमित छात्र संख्या, अत्याधिक शिक्षा व्यय ने पत्राचार एवं दूरस्थ शिक्षा को एक विकल्प के रूप में स्थापित किया है। साथ ही शैक्षिक प्रौद्योगिकी के युग में उन्नत यान्त्रिक उपकरणों द्वारा उपलब्ध शिक्षा सामग्री की ओर परम्परागत एवं अनौपचारिक शिक्षा क्षेत्र के शिक्षक एवं शिक्षार्थी भी आकर्षित हो रहे हैं। पत्राचार एवं दूरस्थ शिक्षा के साथ साथ मुक्त शिक्षा भी भारत में लोकप्रिय हो रही है। कम लागत पर उदार नियमों और विस्तृत अधिकार क्षेत्र के साथ शिक्षा प्रदान करने वाले विश्वविद्यालय जैसे इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय भी दूरस्थ एवं मुक्त शिक्षा प्रदान करने वाली अग्रणी संस्था है। शिक्षा की प्रगति, प्रचार प्रसार के साथ साथ सूचना एवं शैक्षिक प्रौद्योगिकी ने शिक्षा प्रणाली को नये आयाम उन्नत यान्त्रिक यन्त्र, वृहद पठन पाठन सामग्री की उपलब्धता को सुनिश्चित किया है वहीं दूसरी ओर गुरू–शिष्य का प्रत्यक्ष सम्वाद, आदर वात्सल्य में कमी एवं निरन्तर सम्पर्क लाभ से वंचित भी किया है। शिक्षा संस्थानों का भौतिकतावादी दृष्टिकोण धन लोलुपता तथा शिक्षकों का अर्थोपार्जन का उद्देश्य, शिक्षा से फलित उत्कृष्ट एवं उच्च आदर्शों एवं मानवीय मूल्यों को निरन्तर विघटित कर रहा है। शिक्षा की उन्नति एवं वैश्वीकरण समय की आवश्यकता है। परन्तु नैतिक मूल्यों का ह्रास, समाज, देश एवं सभ्यता संस्कृति के लिए शुभ लक्षण नही है। इसलिए मूल्यपरक शिक्षा को पाठ्यक्रम में शामिल करना होगा। क्योंकि इक्कीसवीं सदी में ज्ञान की अवधारणा बदल गई है। जिससे मूल्यपरक शिक्षा का समावेश आवश्यक है मूल्यपरक शिक्षा से ही समाज एवं राष्ट्र की समृद्धि संभव होगी।

ब्रह्मचारी के व्रतधारण के नियम

नैतिक शिक्षा मनुष्य की जागृति, आत्मप्रकाश, व्यक्तित्व विकास, एवं परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करने की एक विकसित एवं सकारात्मक विधि है। इसकी उपयोगिता प्रत्येक समाज एवं व्यक्ति के जीवन को निर्देशित एवं नियमित करने की सार्थकता में है। वर्तमान समाज में संकीर्ण मनोवृत्ति, दिशाशून्य राजनीतिक उदारवाद की आँधी एवं मीडिया व वैश्विक सूचनातंत्र के बढ़ते प्रभाव से हममें जो चारित्रिक एवं व्यावहारिक खुलापन आया है उसके फलस्वरूप जनसामान्य के नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन तीव्रगति से हुआ है जिससे शिक्षक–शिक्षार्थी और वर्तमान शिक्षा पद्धति एक कटघरे में खड़े नजर आ रहे हैं।

वर्तमान में हिंसा और अपराध तो बढ़ ही रहे हैं लेकिन जो मौलिक बात है, आम महत्व की है वह मानवीय मूल्यों में गिरावट। कृत्रिमता एवं बाह्याचारों के दिखावे ने मनुष्य के आंतरिक सौन्दर्य को नष्ट तो किया ही है उसके सोचने–समझने की शक्ति को भी क्षीण करने में कोई कमी नहीं छोड़ी है। रंगीनी दुनियाँ के रंगीन कारनामें व्यक्ति के अंतर्मन को दिखावे की ओर बर्बस खींच रहे हैं तथा सहजता और स्वाभाविकता के मूल सौन्दर्य को नष्ट–भ्रष्ट करने में लगे हैं, ऐसी स्थिति में 'नैतिक शिक्षा' की उपादेयता स्वतः सिद्ध होने लगती है। 'नैतिक शिक्षा' के माध्यम से विद्यार्थियों को मानवतावादी धर्म की शिक्षा दी जाय। छात्र हमारे राष्ट्र के कर्णधार हैं। विद्यार्थियों को यह अनुभव कराया जाय कि जिस प्रकार सूर्य का धर्म ऊष्मा प्रदान करना है ठीक उसी प्रकार 'मानव का धर्म मानवता के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता।[1] (मानव की भाषा मानवता की है/ बाकी भाषाएँ थोथे अक्षर की।'' वक्त की मीनार पर, पृ0 78, – डॉ0 शम्भूनाथ सिंह) इसलिए आज शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन अपेक्षित है।

प्राचीन युग में गुरू और शिष्य के मध्य पारस्परिक श्रद्धा एवं स्नेहपूर्ण सम्बन्ध हुआ करते थे। अध्ययन–अध्यापन के प्रारम्भ में गुरू और षिष्य जिस शक्ति पाठ–मन्त्र का प्रयोग करते थे, वह भी महत्वपूर्ण है–

"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सहवीर्य करवाव है। तेजस्वि नाव धीतमस्तु। मा विद्विषाव है।"[8]

अर्थात् छात्र और गुरू मिलकर प्रार्थना करते हैं कि हम लोगों की एक साथ (अधीत) रक्षा करें, साथ ही उसका उपभोग हो। हम दोनों मिलकर अध्ययन के लिए वीर्य प्राप्त करें। इस प्रकार हम दोनों का अध्ययन तेजस्वी हो। हम लोग आपस में विद्वेष न करें। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी यही भाव निहित है– "सह नौयषः। सह नौ ब्रह्म वर्चसम।"[9] अर्थात् हम शिष्य और आचार्य दोनों को साथ–साथ ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो। गुरू और शिष्य के परस्पर सम्बन्ध का यह आदर्श था।

तैत्तिरीय उपनिषद् में दीक्षान्त अवसर पर गुरू द्वारा छात्र को दिये जाने वाले उपदेष इस प्रकार हैं– "सत्य बोलों, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंश–परम्परा को आगे बढ़ाओं सत्य धर्म, कुशल–क्षेम, समृद्धि, देव–पितृ कार्यों में कभी प्रमाद मत करो। माता–पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान समझो। गुरूजनों के भी निर्दोष आचरण का ही अनुकरण करो, अन्यों का नही। अपने कर्म और आचरण के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने पर विचारशील, सन्तुलित, धर्मात्मा व्यक्तियों के व्यहार से मार्गदर्षन प्राप्त करना चाहिए। यही वेदों का रहस्य है, यही अनुशासन है। इसी की उपासना करनी चाहिए।"[10]

विद्या प्राप्ति के उपरान्त कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते समय किसी छात्र के लिए इससे अधिक प्रेरणादायक और मार्गदर्शक उपदेश और क्या हो सकता है। प्राचीन वैदिक शिक्षा–परम्परा में तपस्वी आदर्शनिष्ठा, अपरिग्रही ऋषि स्तर के अध्यापक होते थें वैसे ही अनुशासित, सेवाभाव सम्पन्न, अध्यावसाय युक्त स्वाध्यायशील छात्र होते थे। शिक्षा भी ऐसे युग्म को पाकर स्वयं को कृतार्थ समझती थी अपने समस्त रहस्य ऐसे सुपात्रों के सामने खोलने में स्वयं को धन्य मानती थी।

उपनयन संस्कारोपरान्त गुरू के आश्रम में विद्याध्ययन हेतु जिस काल में प्रवेश लिया जाता है, वह काल ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता है। गुरूकुल में बालक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तथा गुरूकुल के सभी नियमों का पालन करते हुए वेदाध्ययन करता है, इसलिए उसे ब्रह्मचारी कहते हैं, साथ ही साथ वह अध्ययन और इन्धनानयनादि श्रम भी इस समय आश्रम में रहकर कर रहा है, इसलिए इस आश्रम को 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहते हैं, जो जीवन रूपी प्रसिद्ध की पहली भित्ति है। यह ब्रह्मचर्यपूर्वक जो वेदाध्ययन है, वह अत्यन्त तपोमय था, हमारे ऋषियों व मुनियों की यह पवित्र व शाश्वत धारणा थी कि त्याग व तपस्या द्वारा ब्रह्मचारियों की चित्तवृत्तियाँ निर्मल तथा विद्या ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

जीवन का जो पच्चीस वर्ष तक का प्रथम भाग है, वह अत्यन्त ही कोमल तथा रमणीय होता है। बालक का मस्तिष्क नवनीत या पिघले हुए मोम की तरह समझना चाहिए। उसमें आप चाहे किसी प्रकार के बेलबूटे बना लें वे वन सकते हैं अर्थात् उसको आप जिस साँचे में ढालना चाहेंगे, वह उसी सांचे में ढल जायेगा। यही सब विचारकर बालक की मेधा–बुद्धि व बल के विकास के लिए इस समय को उपयुक्त जानकर प्राचीन काल में पाँच वर्ष के बाद बालक को पास में कहीं गुरूकुल में शिक्षा के लिए भेज देते थे। गुरूकुल में बालक ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्याध्ययन करता था, इसीलिए उसको 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था जिसकी, व्युत्पत्ति सिद्धान्तकौमुदी में इस प्रकार दी है– ब्रह्म–वेद, तदध्ययनार्थ व्रत, तच्चरतीति ब्रह्मचारी। वाल्यावस्था में बालक को ब्रह्मचारी कहने का यही तात्पर्य है कि वह इस स्वर्णमय वेला में वेद का अध्ययन करता है, अन्यथा ब्रह्मचर्य की तो यावजीवन आवश्यकता है।

ब्रह्मचारी की परिभाषा

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने आश्रम व्यवस्था के क्रम में ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की सफलता रूपी प्रासाद का प्रथम सोपान माना है। उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम द्वारा ही ब्रह्मचारी के उत्तरदायी जीवन का आरम्भ होता है और इसी आश्रम के सहयोग से ब्रह्मचारी गुरू के सम्पर्क में रहकर सम्पूर्ण उन वैद्य (जानने योग्य तत्व) वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है जो मोक्ष या निःश्रेयस या परम कल्याण अथवा आत्मा के विकास के कारण माने गये हैं।

व्याकरण की दृष्टि से ब्रह्मचर्य शब्द की व्युत्पत्ति ब्रह्म उपपद पूर्वक चर् धातु से आचरण करने के अर्थ से निष्पन्न है। ब्रह्मचर्य शब्द का अभिप्राय ही यहाँ पर यह है कि ब्रह्म अर्थात् महान् और चर्य का अर्थ है– अनुसरण करना या चलना।

इस प्रकार महत्ता के मार्ग पर चलकर, तदनुकूल नियमों का पालन करने वाले को ब्रह्मचारी शब्द से अभिहित किया गया था। इस प्रकार वस्तुतः विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को वश में रखकर आत्मा के सम्यक् ज्ञान हेतु महान् आत्माओं के आचरण का अनुकरण करके ब्रह्मचारी वेद विहित ईश्वरीय नियमों का पालन जिस रूप में करता था, उस काल को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया था।

ब्रह्मचर्यावधि में विद्याध्ययन को ही लक्ष्य मानकर तत्कालीन ब्रह्मचारी गुरू आश्रम में संयम नियम पूर्वक रहते हुए आत्मिक उन्नति हेतु ज्ञान साधना को प्रथम स्थान देते थे। यद्यपि आज के युग में ब्रह्मचर्य तथा धार्मिकता विशुद्ध मूर्खता की निशानी समझे जाते हैं तथापि आध्यात्मिक जनता इसका पालन आज भी करे तो निस्सन्देह ब्रह्मचर्य धर्म का पालन प्रचुरता के साथ तो बढ़ेगा ही, साथ ही दीर्घायु, तेज, सदगुणशीलता सम्पन्न हो मनुष्य अकाल मृत्यु को प्राप्त होने से बच सकता है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार– प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पांच वर्षों का ब्रह्मचर्य काल होता है, किन्तु कुछ लोग विद्याग्रहण के अन्त तक ब्रह्मचर्य बताते हैं। केशान्त या गोदान नाम का कर्म (गर्भकाल से) सोलहवें वर्ष में करना चाहिए।''[11]

ब्रह्मचारी के लक्षण

लक्ष्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना मानव जीवन में अनिवार्यतः अपेक्षित है। ज्ञान साधना के द्वारा ही चित्त समाहित होकर उस आनन्दमय तत्व को उपलब्ध कर लेता है, जिससे निर्मल अन्तःकरण में उज्जवल, निर्मल, शीतल तथा ईश्वरीय ज्योति आविर्भूत होती है। दिव्य इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील याज्ञवल्क्यस्मृति में इसकी विवेचना इस प्रकार की गई है–

''स्नान, अब्दैवत मन्त्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम (तदुपरान्त) सूर्योपस्थान और गायत्री जप प्रतिदिन करें। प्राणायाम के उपरान्त मार्जन मन्त्र से सिर पर जल छिड़ककर (सन्ध्या को) पश्चिम की ओर मुख करके तारागण का उदय होने तक सावित्री का जप करें।''

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्माजनं प्राणसंयमः। सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः।।

गायत्रीं शिरसा सार्ध जतेद् व्याहृतिपूर्विकाम्। प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयम।।

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाब्दैवतेन तु। जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात्।।''[12]

याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि ब्रह्मचारी के प्रमुख लक्षण सन्ध्याओं, (सायं एवं प्रातः) अग्निहोत्र, अग्नि

परिचर्चा, स्वाध्याय, गुरू अथवा अपनी संस्था के लिए भैक्ष्याचरण, मूंज की मेखला तथा जटाओं को धारण कर खेतों की एवं जंगलों की मिट्टी, पुष्प आदि लाकर गुरू प्रवचन सुनना आदि इस आश्रम का आश्रम लेने वाले प्रमेय विषय के जिज्ञासु ब्रह्मचारी विद्यार्थियों के प्रमुख लक्षण हैं।

संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात्। अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरूभयोरपि।।

ततोऽभ्झिवादयेद्वृद्धानसावहमिति बुवन्। गुरूं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः।।

आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्। हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः।।[13]

ब्रह्मचारी के लक्षण के प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि– ''कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र, आधिव्याधि से मुक्त, परदोषान्वेषण से विरत, सदाचारी, (सेवा में) समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एवंधनदाता– ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह पलाश का दण्ड, कृष्ण मृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूंज की मेखला धारण करें। जीवन निर्वाह के लिए पवित्र (अर्थात् अपने कर्म में रत रहने वाले) ब्राह्मणों के घर भिक्षायाचन करें।

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्यानसूयकाः। अध्याप्या धर्मतः साधुश्झक्ताप्तज्ञानवित्तदाः।।

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्। ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये।।[14]

श्रीमद्भागवत में ब्रह्मचारी के लक्षण बताये गये हैं कि वह अपने शील की रक्षा करे। थोड़ा खायें और अपने कर्मों को निपुणता के साथ करें। श्रद्धा रखें और इन्द्रियों को अपने वश में रखें। स्त्री और स्त्रियों के वश में रहने वालों के साथ जितनी आवश्यकता हो उतना ही व्यवहार करे।(सुशीलो मितभुगदक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।

यावदर्थ व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च।।[15]

स्मृतियों में आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम मनुष्य के जीवन का एक साधना काल माना गया तथा इसी के अनुरूप आचरण करना ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म था। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ज्ञानार्जन को आत्मिक उन्नति का द्योतक मानते हुए तत्कालीन ब्रह्मचारी विद्याविशेष को प्राप्त करने हेतु कहे गये लक्षणों के अनुरूप कार्य करता था। ऋषि–मुनियों द्वारा निर्मित उक्त प्रकार के लक्षणों का विधान साथ ही यहाँ पर यह संकेत भी देता है कि जैसे भैक्ष्याचरण आदि ब्रह्मचारी के लक्षणों को देखते ही यह पता चल जाय कि वह ब्रह्मचारी विद्यार्थी है जिससे गृहस्थ उनको भिक्षाटन देने से वंचित भी न करें। इस प्रकार सच्चा स्वाध्याय करते हुए प्राचीनता को लेकर नवीन ज्ञान का निर्माण करने के रूप में ब्रह्मचर्य आश्रम, ब्रह्मचारियों की जीवन यात्रा के लिए वह प्रकाश स्तम्भ माना जाता था। जोकि उनके जीवन मार्ग को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने में पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए (विद्या ददाति विनयं) नम्रता आदि गुणों का भी द्योतक था।

ब्रह्मचारी के लक्षणों के अनुरूप अनुसरण कर ज्ञान प्राप्ति करने की स्थिति में इन्द्रियों का दमन एवं मन को एकाग्र कर प्रमाद का त्याग और गुरू सेवा करना ब्रह्मचारी का प्रथम लक्षण था। कठोरता से जिसका पालन करके इस आश्रम के माध्यम से ही वह आत्मिक, बौद्धिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का समुचित विकास करते हुए जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को ग्रहण कर एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचता है। दूसरे शब्दों में हम ये भी कह सकते हैं कि अज्ञानमय, अबोध बालक का विवेकशील, ज्ञानवान ब्रह्मचारी के रूप में परिणमन करना ही ब्रह्मचर्य आश्रम का धर्म था एवं गुण था।''[16]

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए मनु एवं याज्ञवल्क्य का कहना है कि ब्रह्मचारी का प्रथम कर्तव्य है कि वह गुरू के कथनानुसार सर्वप्रथम करणीय कर्त्तव्यों को सम्पन्न करे तथा उनकी सेवा को ही प्रथम स्थान देते हुए मृदुल, जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, सावधान होकर स्वाध्याय करे। इस तरह नियमानुकूल कर्तव्यों का पालन करने वाला ब्रह्मचारी निराशा की अन्धकारमयी रात्रि को आशा के अरूणोदय में परिवर्तन कर जीवन में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचारी वेदाध्ययन काल में आलस्य का त्याग करने से सूक्ष्मातिसूक्ष्म वेद–रहस्यों को ग्रहण करने में समर्थ होता है और निद्रा का सर्वथा परित्याग करने पर उसे स्वप्न दोषों की आशंका नहीं होती है। निद्रा का त्याग भी इस प्रकार ब्रह्मचारी के आवश्यक कर्त्तव्यों में आगणित किया गया था जिसका पालन उसे ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर ही पूर्ण करना पड़ता था। इस तरह गुरू सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचारी उन कर्तव्यों का पालन करता था जोकि अन्य तीन आश्रमों से भिन्न होते थे तथा जीवन के विभिन्न चरणों में सुखों, इच्छाओं की प्राप्ति हेतु निष्ठा पूर्वक इन कर्तव्यों का पालन करना उसका धर्म था।

ब्रह्मचारी के दैनिक कर्तव्यों में भैक्ष्याचरण प्रथम कर्तव्य था क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए न तो वह अर्थोपार्जन की वृत्ति अपना सकता है और न अपने परिवार व मित्रों से आर्थिक सहायता ही प्राप्त कर सकता था।

ब्रह्मचारियों को चाहिए कि वह राजोगुणवृत्ति को अपने अन्दर प्रकट न होने दें एवं स्त्रियों की चर्चा न तो वह सुनें और न करें। अपने अध्ययन काम में स्त्रियों की चर्चा सुनना ही रजोंगुण, राग, काम, भाव को उत्पन्न करना है, जिससे ब्रह्मचार्य व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मचारी हेतु यह वृत्त अशुभ होती है।

इस प्रकार स्वाध्याय, गुरूशुश्रूषा, इन्द्रियदमन, भैक्ष्याचरण, नित्य–नैमित्तिक सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र, शौचाचार आदि कर्तव्यों का निष्ठा पूर्वक पालन करके ही तत्कालीन ब्रह्मचारी का जीवन में शौचाचार को प्राथमिकता देना प्रत्येक ब्रह्मचारी का कर्तव्य था। जीवन के प्रशस्त मार्ग हेतु ब्रह्मचर्य का पालन एकाकी वास करने से ही पूर्ण होता था। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए एकाकी निवास करना भी उसके कर्तव्यों में निर्दिष्ट किया गया।

ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य पालन की महत्ता को जानकर ही कठोर से कठोर कर्तव्यों, नियमों का विधान किया गया था। इसके पालन से ही मानव उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं जीवनोपयोगी सिद्धान्त को आत्मसात् कर लेता है जिनका कि उसके जीवन के साथ सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। ज्ञान के बल पर उनका मनोबल सदैव किसी भी स्थिति में जीवन के विभिन्न पहलुओं, कठिनाईयों का निराकरण करने में समर्थ रहा है क्योंकि मात्र मनोबल के टूट जाने से दैविक, दैहिक एवं भौतिक तीनों बल अस्तव्यस्त हो जाते हैं।

ब्रह्मचारी के प्रमुख उद्देश्य

वायु अपने आपमें न तो सुगन्धमय है और न ही दुर्गन्धमय। जिस प्रकार पुष्पवाटिका के सम्पर्क से एवं मलिन वस्तु के सम्पर्क से वह सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को प्राप्त होती है, इसी प्रकार मानव जीवन की भी वही स्थिति है। अज्ञानता से इन्द्रियों के अधीन होकर विषय– भोगादि में लिप्त रह चंचल, चलायमान, विक्षिप्त शिष्य भी गुरू के सम्पर्क में आते ही मानवता से पूर्ण, ज्ञान से युक्त होकर शान्त तथा सन्तोष प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम द्वारा ही हमारे ऋषि–मुनियों ने जीवन की चंचलता, व्यग्रता को एकाग्र रखने का प्रयास किया है, जिसमें प्रवेश होकर ब्रह्मचारी को मुख्यतः अपने जीवन को

परिष्कृत करने हेतु कुछ मानदण्डों का पालन करना पड़ता है। इन मानदण्डों का ही ब्रह्मचारी को गुरूगृह में रहते हुए निष्ठापूर्वक पालन करना पड़ता था। गुरूगृह में रहते हुए ब्रह्मचारी को चार उद्देश्यों का पालन करना पड़ता था, जिनके पालन के प्रभाव से ही वह अपने अस्थिर जीवन को परिमार्जित करते हुए सम्यक् विकास की ओर अग्रसर होता था।[17]

जिस आश्रम का सेवन करने से मनुष्य अपनी जीवन यात्रा में अज्ञानता, अन्धश्रद्धा से प्रेरित न होकर विवेक और बुद्धि के आधार पर जीवन पथ का निर्माण करते हुए सदैव जागरूक बना रहता था, उसी प्रशिक्षण स्थल रूप मानव के बौद्धिक तथा शिक्षित जीवन के विकास के लिए इस आश्रम में ब्रह्मचारी के उद्देश्यों की कल्पना की गई है। प्रशिक्षित होते हुए भी ब्रह्मचारी अनेक सद्गुणों को ग्रहण कर अपने चरित्र का निर्माण करते हुए आदर्श स्थिति को प्राप्त करता था। उनका क्रमशः अनुशीलन आज भी किया जाये तो निश्चय है कि प्राचीन मानदण्डों के धरातल पर जीवन रूपी प्रासाद की स्थिति अवश्यमेव सुदृढ़ होगी।

मनुष्य के जीवन को सफलता की ओर ले जाने वाले, विद्या, व्रत, उपवास आदि जितने भी ये पवित्र कार्य हैं, उन सबके मूल में ब्रह्मचर्य एवं गुरूवाक्य ही जीवनाधायक आधार हैं। यह आधार प्राप्त कर ही मनुष्य जीवन पथ को निष्कण्टकता से अग्रसारित करने हेतु गुरू अनुशासन में इन्द्रिय संयम (ब्रह्मचर्य), बौद्धिक (वेद ग्रहण), आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति के लिए अनुशासन, कर्तव्यपालन, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों को ग्रहण करता है।[18]

प्राचीन समय में मर्यादा को भंग करने से पूर्व यदि कुछ क्षण चिन्तन कर उसका पालन करें तो अवश्यमेव तब के ब्रह्मचर्य जीवन के समान गुरू के साक्षात्कार से प्राप्त ज्ञान का अवलम्बन लेकर अपने जीवन की लयात्मकता को भंग न करते हुए हम शतायु बन सकेंगे।

प्राचीन समय में विद्याध्ययन का समय ब्रह्मचर्याश्रम माना जाता था। जिसमें ब्रह्मचारी आश्रम के नियमों का पालन करते हुए, अपने गुरू से अन्य विद्याओं के अतिरिक्त ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता था; अपनी सेवा और भक्ति से गुरू को प्रसन्न और सन्तुष्ट करता था, गुरूकुल का सहयोग करता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति एकाग्र मन से विद्या ग्रहण करता था। याज्ञवल्क्य ने तो यह बात कही है कि ''ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति ऐसा मोक्ष प्राप्त करता है, जिसमें उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता है।

अनेन विधिना देहं सादर्यान्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मालोकमवाक्षोति न चेहाजायते पुनः।।[19]

मनु का मानना है कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न केवल इस लोक के अभ्युदय का हेतु है, अपितु मोक्ष प्राप्ति का साधन भी है।''

आश्रम व्यवस्था : वैदिक समाज के संचालक मनु, याज्ञवल्क्य आदि मनीषियों ने आश्रम व्यवस्था को संगठित करके, विश्व की सामाजिक विचारधारा को अद्वितीय देन दी है। आश्रम व्यवस्था द्वारा मानव को ऋणों (ऋषि ऋण, पितृऋण, देवऋण) से मुक्त करने का प्रयास किया गया है तथा पित्रैदिक समाज की यह भी मान्यता थी कि इस आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले को परमपद होता है।

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निशेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्।।[20]

मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में शिष्य का मुख्य उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस आश्रम का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता है। मनु ने बालिकाओं के उपनयन संस्कार का निषेध बताया है। बालकों का उपनयन संस्कार आठ से ग्यारह

वर्ष की आयु में, उनके वर्णानुसार धर्मशास्त्रों में विवेचित विधि द्वारा किया जाता है। जिससे बालक ब्रह्मचारी कहलाने लगता है।

प्रथम तीन वर्ण ही ब्रह्मचारी बन सकते हैं। इस आश्रम में बालक की कोमल एवं निर्मल अवस्था में सात्विक विचारों के अध्ययन द्वारा नैतिक गुणों को प्रोत्साहित किया जाता है। ताकि वह सामाजिक व्यवस्था में उपयोगी भूमिका का निर्वाह कर सके। ब्रह्मचारी गुरू के आश्रम में पच्चीस वर्ष तक की आयु तक रहकर अध्ययन करता है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के बताये गये हैं।

1. उपकुर्वाण– वे ब्रह्मचारी, जो विवाहवस्था (पच्चीस या छब्बीस वर्ष) तक गुरूकुल में रहकर अध्ययन करते है। [21]
2. नैष्ठिक– वे ब्रह्मचारी, जो जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर अध्ययन करते हैं।

ब्रह्मचारी का खान–पान, रहन–सहन, पूर्ण रूपेण सात्विक बताया गया है। मनु ने बताया है कि वह मृगचर्म या बल्कल पहने, भोर और साँझ को स्नान करे।[22] गुरू के आश्रम में ब्रह्मचारी विभिन्न विद्यायें जैसे– धर्म, दर्शन, आयुर्वेद, धनुर्वेद, आदि का स्वाध्याय करते हुये मन को अपने वश में रखे, नित्य दान करें तथा जीवों पर दया करें।[23] ब्रह्मचारी को गुरू के प्रति अत्यन्त तीव्र आदर भाव रखना चाहिये क्योंकि स्मृतिकारों ने गुरू को माता–पिता से ऊँचा स्थान दिया है।[24] ब्रह्मचारी के आचरण के विषय में मनु ने बताया है कि वह गुरू के प्रति सेवा भाव रखे तथापि गुरू की आज्ञा की अवहेलना तथा संभाषण कभी न करें।[25]

शिक्षा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द ''शिक्ष'' से हुई है जिसका अर्थ है सीखना। अतः सीखने और सिखाने की क्रिया को शिक्षा कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा को Education कहते हैं। जो लैटिन शब्द Educatuon से बना है जिसका अर्थ है आगे बढ़ाना। साधारण शब्दों में किसी व्यक्ति की आंतरिक प्रतिभा एवं गुणों को निखारना एवं बौद्धिक क्षमताओं को सही दिशा देने की क्रिया को शिक्षा कहते हैं। शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान एवं निर्धारित पाठ्यक्रम का नाम न होकर सम्पूर्ण शक्ति योग्यता, बुद्धि के समग्र विकास को कहते हैं। शिक्षा के उद्देश्य भी देश, काल, सामाजिक जरूरतों एवं विकास की गति के साथ हर युग में बदलते रहे हैं। शिक्षा के प्रयोजन भी समय के साथ गतिशील रहते हैं।

गुरू, शिष्य के कर्तव्य, गुरू आदि का अभिवादन शिष्य के कर्तव्यों का विश्लेषण

स्मृतिग्रन्थों में अध्यापक के लिए आचार्य, उपाध्याय और गुरू शब्द प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति में इन तीनों में भी अन्तर किया गया है। आचार्य का लक्षण दिया गया है कि जो द्विज शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे कल्प (यज्ञविद्या) और रहस्यों (उपनिषदों) सहित वेद को पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।[26] उपाध्याय का लक्षण दिया गया है कि जो द्विज वेद के एक अंश तथा वेदांगों को आजीविका के लिए पढ़ाता है, उसे उपाध्याय कहते हैं।[27] गुरू का लक्षण दिया गया है कि जो विधिपूर्वक गर्भाधान आदि संस्कारों को कराता है और छात्र का अन्न आदि के द्वारा पालनपोषण करता है, उसे गुरू कहते हैं।[28] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चारों वेदों और शास्त्रों को पढ़ाता था। उपाध्याय विद्या को आजीविका का साधन मानता था। वह वेद या वेदांगों में से किसी एक विषय का विशेषज्ञ होता था। गुरू 16 संस्कारों को कराता था और गुरूकुल में छात्रों के भरण–पोषण की व्यवस्था करता था। याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ और बृहस्पति ने उपनयन संस्कार करके वेद पढ़ाने वाले को आचार्य कहा है। उन्होंने मनु के तुल्य ही वेद के एक अंश को पढ़ाने वाले को उपाध्याय कहा है और संस्कार करके वेदोपदेश करने वाले को गुरू कहा है।[29]

शिष्य के चरित्र निर्माण में गुरू की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गुरू को 'आचार्य'

इसलिए कहा जाता था क्योंकि वह अपने शिष्यों को 'आचार' या 'चारित्र्य' की भी शिक्षा प्रदान करता था। "यदि आज हम शिक्षा के उच्च संस्थानों में, प्रतिष्ठित केन्द्रों में शिक्षार्थी और शिक्षक के मध्य सम्बन्धों का आकलन करें तो आज न तो वैसे आदर्शनिष्ठ शिक्षक ही हैं जो शिष्य पर पुत्रवत् स्नेह रख सकें और न वैसे अध्यवासी, अनुशासित शिष्य ही हैं जो शिक्षक के प्रति मातृ–पितृवत श्रद्धा और सम्मान का भाव रख सकें। अतः आज उस प्राचीन वैदिक शिक्षा पद्धति और गुरूशिष्य–परम्परा की पुनरावृत्ति की नितान्त आवश्यकता है।"[30] श्रीमद्भगवद्गीता भी शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों को समान महत्व देती है। गीता के अनुसार गुरू वह है जो उच्च व्यक्तित्व का धनी है, जिसमें संवेगों का नियन्त्रण और सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओं, बुद्धि और इच्छा शक्ति का पूर्ण संकलन हो। यह संकलित व्यक्तित्व (आध्यात्मिक शिक्षक) ही आदर्श गुरू है। इसीके साथ शिक्षा व्यवस्था अपने शिष्यों को इस तरह तैयार करें कि वे लोकहित के लिए अन्याय का उन्मूलन करने हेतु निमित्त कारण बनाने वाले अर्जुन की तरह आगे आयें और उनमें पात्रता और कौशल दोनों हो। श्रीमदभगवद्गीता ऐसे पाठ्यक्रम को महत्व देती है जिसमें योग, ज्ञान योग, भक्ति योग का समावेश हो तथा जो शिक्षार्थी के जीवन–यापन के कार्य में कौशल (कर्मयोग) प्रदान करते हुए, उसके भीतर छिपी हुयी नैसर्गिक प्रतिभा को उभारने में सहयोगी हो।"[31] इस प्रकार व्यक्ति के आचरण में सुधार व चारित्रिक–विकास की दृष्टि से प्राचीन कालीन नैतिक शिक्षा की अति आवश्यकता है।

आचार्य का महत्व

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने आचार्य को ब्रह्य की मूर्ति बताया है और पूज्यता की दृष्टि से आचार्य, माता और पिता को एक श्रेणी में रखा गया है।[32] अतएव आचार्य, माता और पिता की सेवा से समस्त तप की सफलता मानी गई है।[33] आचार्य और पिता में आचार्य को अधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि वह विद्यादान देता है। विद्यादान ही इस जीवन और परलोक को सुधारता है।[34] आचार्य को दस उपाध्यायों के बराबर आदर दिया गया है। जन्म से ही बालक का पालन–पोषण करने के कारण पिता और माता को आदरणीय बताया गया है। अतः पिता को सौ आचार्यो के बराबर और माता को एक सहस्त्र पिता के बराबर कहा है।[35] आचार्य का यह भी महत्व है कि वह विद्या के साथ ही छात्र की जाति का निर्णय करता है। वह छात्र की स्नातक होते समय, जो जाति निश्चित करता है, वही जीवन भर उसकी जाति मानी जाएगी।[36] मनु ने ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया है और इसीलिए ज्ञानदाता का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना है।[37.] मनु का कथन है कि मूर्ख व्यक्ति बालक माना जाता है और ज्ञानदाता पिता होता है।[38] मनु ने ऋषियों का मत दिया है कि जो वेदवित् और ज्ञानी है, वही सर्वश्रेष्ठ है। धन, आयु आदि के कारण व्यक्ति समाज में महान् नही होता है।[39] मनु का कथन है कि जिससे थोड़ा या अधिक जो भी ज्ञान प्राप्त किया है, वह गुरू है। वह पूजनीय है।''[40]

आचार्य एवं गुरू के कर्तव्य

आचार्य का कर्तव्य था कि वह विद्यार्थी को वेद की शिक्षा के साथ ही आचार की शिक्षा दे।[41] आचार्य छात्र के भोजन की व्यवस्था करता था और छात्र को पुत्रवत् मानता था।[42] यदि विद्यार्थी गुरू को छोड़ता था तो वह उसको कठोर दण्ड देता था। कठोर दण्ड में वध (कठोर ताड़ना) और बन्ध (रस्सी आदि से बांधकर रखना) का भी विधान था।[43] वृद्धहारीत से ज्ञात होता है कि विद्यार्थी के वस्त्रादि की व्यवस्था करना भी गुरू का कार्य था।[44]

स्मृतिकार मनु ने अपने समय के समाज में गुरू को महत्वपूर्ण स्थान दिया हे। क्योंकि वह

अपरिपक्व बच्चों का भार अपने ऊपर लेकर उनको योग्य और उपयोगी नागरिक बनाता है। स्मृतिकार मनु के आधार पर वह माता–पिता से भी अधिक आदर का पात्र है, क्योंकि माता–पिता से हमें केवल पार्थिव शरीर ही मिलता है, जबकि गुरू से बौद्धिक उन्नति का विकास होता है। इसलिये गुरू आध्यात्मिक पिता के रूप में वर्णित हुआ है।[45] शिष्य के गुणों को वर्णित करते हुए मनु कहते हैं कि शिष्य गुरू का आदर करने वाला होना चाहिये यदि वह शय्या पर बैठा हो तो उसे गुरू के आने पर झट–पट उठकर प्रणाम करना चाहिये।[46]

स्मृतिकारों ने गुरू को उच्चचरित्र वाला आदर्श व्यक्ति बताया है। गुरू नित्य आलस्य रहित होकर निर्दिष्ट समय पर शिष्य को ''पढ़ो'' कहकर पढ़ने के लिये आज्ञा दे और पढ़ाना समाप्त होने पर **''बस करो''** कहकर अध्यापन बंद करें।[47] वेद पढ़ने के समय नित्य आदि और अंत में प्रणव (ओंकार) का उच्चारण करें। पाठ के पहले और पीछे ओंकार का उच्चारण न करने से पहले पढ़ा हुआ पाठ भूल जाता है। और आगे को पाठ याद नहीं होता।[48]

मनु ने शिष्य के आचरण व गुरू के प्रति उसकी आदर भावना की दैनिक जीवन में आये व्यवहार की उद्धरण देते हुये विशद विवेचना की है।

चौछितो गुरूणा नित्यमप्रदोदित एवं वा।।
कुर्यादद्वययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।।[49]

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांति च ।
नियम्यप्राज्जलिस्तिष्ठे द्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।।[50]

आसीनस्य स्थितः कुर्यादमिगच्छंस्तु तिष्ठवः।
पत्युद्रम्य त्वाब्रजतः पाश्चाद्धायंस्तु धावतः।।[51]

अभिवादन के तीन प्रकार थे–

1. **नैत्यिक** – (प्रतिदिन के लिए आवश्यक) विद्यार्थी प्रतिदिन प्रातः और सायं संध्या के बाद गुरू को चरण छूकर प्रणाम करे।[52]
2. **नैमित्तिक** – (विशिष्ट अवसरों पर करने योग्य) – जैसे विभत्र संस्कारों के समय प्रणाम करना,
3. **काम्य** – (किसी विशेष कामना से किया जाने वाला)– दीर्घायु, कल्याण आदि के लिए प्रणाम करना। मनु ने लिखा है कि वृद्धजनों को प्रणाम करने से मनुष्य की चार चीजें बढ़ती हैं – आयु, विद्या यश और बल।[53]

भारत ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति करके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ अवश्य अर्जित की हैं किन्तु जब हम अपनी संस्कृति एवं मूल्यों पर विचार करते हैं तो हमारा मास्तिष्क शर्म से झुक जाता है क्योंकि हमारी संस्कृति तथा उसमें व्याप्त जीवन–मूल्यों का दिन–प्रति दिन पतन होता जा रहा है। स्मृतिकालीन समय में आश्रमों में रहकर निरभिमानता, श्रम और स्वावलंबन हेतु भिक्षाटन शिष्यों की दिन चर्या थी, आज इंजीनियरिंग और मेडिकल जैसे प्रतिष्ठित उच्च संस्थानों के छात्रों के मूल्यों में गिरावट आना आम बात हो गयी है। ये उच्च संस्थायें मानवीय गुणों से युक्त छात्र की जगह रोबोट को जन्म दे रही हैं। हम भौतिक रूप से समृद्ध हों परन्तु अपनी प्राचीन पहचान न छोड़ें। यह तभी सम्भव होगा ,गुरू आचरण एवं ज्ञान में विराट् स्वरूप श्रीकृष्ण की एवं शिष्य अर्जुन की तरह हो। पढ़ने के लिए विद्यार्थी में श्रद्धा के साथ विनयशीलता एवं बार–बार प्रश्न पूछने का अर्थात् जिज्ञासु होने का एवं सेवक का गुण भी होना चाहिए[54]–

अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना है तो विनयशील, जिज्ञासु और सेवाभाव होनी चाहिए, जबकि आज इसका अभाव है। बाजार में उपलब्ध

गाइडो, छोटी–छोटी सीरीज ने वर्तमान गुरू–शिष्य संबंधों को बहुत क्षति पहुँचायी है। वेदाध्ययन के अनंतर शिष्य को आचार्य द्वारा दिया गया उपदेश उल्लेखनीय है– "सत्यंवद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"[55]

शिक्षक और वेतन : मनु और शंखस्मृति में आजीविका के लिए धन लेकर वेद या वेदांग पढ़ाने वाले गुरू को उपाध्याय कहा है। इनको भृतकाध्यापक या वेतनभोगी अध्यापक कहा जाता था।[56] धन के लिए पढ़ाने एवं वेतनभोगी गुरू से पढ़ने को उपपातक बताया है।[57] मिताक्षरा आदि ने लिखा है कि भृतकाध्यापक उसे कहा जाता था जो निर्दिष्ट धन लेकर ही पढ़ाता था। यह निन्दित कार्य समझा जाता था। शिष्यों से कुछ ले लेने मात्र से भृतकाध्यापक नहीं होता था।[58] मनु और याज्ञवल्क्य ने आपातकाल में जीवका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की है।[59]

गुरू और शिष्य की आजीविका की व्यवस्था

मनु, याज्ञवल्क्य और गौतम के अनुसार विद्धानों एवं विद्यार्थियों की आजीविका की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य था। राज्य में कोई ब्राह्मण भूखा न मरे, यह देखना राजा का कर्तव्य था। यदि गुरू विद्या–समाप्ति पर शिष्य से अधिक धन मांगे तो शिष्य राजा के पास पहुँचता था।[60]

गुरू–सेवा, गुरू–पूजा और गुरू–दक्षिणा

मनु ने गुरूकुल में रहकर जीवन–पर्यन्त गुरू की सेवा का आदेश दिया है तथा गुरूसेवा का फल ब्रह्मप्राप्ति बताया है।[61] मनु का कथन है कि माता–पिता और गुय इन तीनों की सेवा से ही मनुष्य की सब इच्छाएँ पूर्ण होती है। इनकी सेवा नकरने से सब कर्म निष्फल रहते हैं।[62] मनुष्य माता की सेवा से इस लोक को, पिता की सेवा से मध्यलोक को और गुरू की सेवा से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[63] शंख का कथन है कि गुरूपूजा से ही ब्रह्मचारी को जाता है, स्नान या यज्ञादि से नहीं।[64] लघुआश्वलायन से गुरू को पिता बताया है तथा सदा मान्य कहा है।[65] बौधायन से आचार्य पिता और माता की सेवा का फल सर्यवत् तेजस्विता बतलाया है।[66] गौतम ने सब प्रकार से गुरूसेवा करने का आदेश दिया है।[67]

गुरू–दक्षिणा

गौतम ने विद्या की समाप्ति पर गुरू को दक्षिणा देने का विधान किया है। इसके पश्चात् ही वह स्नातक होता था।[68] लघुआश्वलायन का भी मत है कि अपने ऐश्वर्य के अनुसार गुरू को दक्षिणा दे। दक्षिणा में सुवर्ण, वस्त्र, धान्य आदि का विधान था।[69]

गुरूपत्नी

मनु और औशनस स्मृति में गुरू के तुल्य गुरूपत्नी का भी आदर करने का विधान किया गया है। इतना ही नही औशनस ने गुरू के सम्बन्धियों और गुरू के पुत्रों के साथ भी आदर का व्यवहार करने का विधान किया है।[70] मनु और औशनस ने युवा ब्रह्मचारियों के लिए गुरूपत्नी को दूर से ही नमस्कार का विधान किया है। वे औचित्य की दृष्टि से गुरूपत्नी के चरणें का स्पर्श न करें, अपितु यथावत् उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित करें।[71] औशनस ने मामी, मौसी, सास और बुआ को भी गुरूपत्नी के तुल्य बताया है और इनके अभिवादन का विधान किया है।[72]

विद्याध्ययन के अधिकारी

शिक्षा **के पात्र** : मनु ने निरूक्त[73] के विद्यासूक्त को उद्धृत किया है और कहा है कि अपनी रक्षा के लिए विद्या ब्राह्मण के पास आई और उससे कहा कि जो द्वेषी हो, उसे विद्या न दे। इसके विपरीत जो ब्रह्मचारी, पवित्र, संयमी और अप्रमादी

हो, उसको ही विद्यादान करे।[74] मनु ने दस प्रकार के शिष्यों को विद्याध्ययन का पात्र बताया है– आचार्य का पुत्र, गुरू की सेवा करने वाला, अन्य विषयों को जानने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, सत्यवादी, ज्ञान के ग्रहण और धारण में समर्थ, धन देने वाला, सदाचारी और निकट सम्बन्धी।[75] याज्ञवल्क्य ने मनु के बताए शिष्यों के गुणों का भी समावेश किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार विद्या के पात्र हैं– कृतज्ञ, अद्रोही, मेधावी, पवित्र, स्वस्थ, अछिद्रान्वेषी, सदाचारी, ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ, सत्यवादी, विद्यादानी एवं धनदाता। ये गुण सामूहिक या व्यस्त रूप में विद्यार्थी में अवश्य होने चाहिए। इनको ही विधिपूर्वक शिक्षा दी जानी चाहिए।[76]

विद्याध्ययन के अनधिकारी

मनु का कथन है कि दोषों से युक्त व्यक्तियों को विद्या न दे। छिद्रान्वेषी को विद्या न दे।[77] जिसमें धार्मिकता नहीं है, जो सम्पन्न और सोद्देश्य नहीं है और जिसमें गुरूसेवा का भाव नहीं है, उसे विद्या न दे। इन्हें विद्या देना ऊसर में बीज बोने के तुल्य है।[78] मनु का कथन है कि ऊसर में विद्यारूपी बीज बोने से अच्छा है कि वह विद्या गुरू के साथ ही समाप्त हो जाए। जो छल से विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें भी विद्या न दे। जो अधर्मपूर्वक विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसे भी विद्या न दे।[79] हारीत का कथन है कि तीन कारणों से विद्या देनी चाहिए– धर्म के लिए, धन के लिए और सेवाभाव के लिए। जिनमें धर्म, धन और सेवाभाव का अभाव है, उन्हें विद्या न दे। निष्कर्ष रूप में हारीत का कथन है कि योग्य शिष्यों को ही शिक्षा दे, आयोग्यों को नही।[80] औशनस स्मृति के अनुसार गुरू एक वर्ष शिष्य की परीक्षा करके आचारयुक्त मनस्वी और सदाहितकारी को ही विद्या दे।[81] लघुहारीत का कथन है कि ऐसे व्यक्ति जिनकी बुद्धि वेदों में न लगती हो और जो मन्द बुद्धि हों उन्हें विद्या न दे। ऐसे व्यक्ति को पढ़ाना कुलनाशक है।[82] वृहस्पति का मत है कि यदि मन्द बुद्धि व्यक्ति चार वेद और छः वेदांगों को पढ़ ले, तब भी वे शोभा के पात्र नहीं होते हैं, जैसे चन्द्रहीन रात्रि। इस प्रकार स्मृतिहीन या मन्द बुद्धि शिष्यों को वेदादि का अपात्र बताया गया है।[83] अत्रिसंहिता ने अकुलीन, दुराचारी, मूर्ख, शूद्र और धूर्त इनको शास्त्र–ज्ञान देने का निषेध किया है और कहा है कि केवल सदाचारी शिष्य को ही धर्मशास्त्र की शिक्षा दें।[84]

शिष्य के कर्तव्य

मनु का कथन है कि शिष्य का प्रमुख कर्तव्य वेदों का अध्ययन है। शिष्य तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए एवं व्रतों का पालन करते हुए, उपनिषदों सहित सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे।[85] इस विषय में मनु का स्पष्ट आदेश है कि द्विज वेदों का अनिवार्य रूप से अध्ययन करें। वेदों का अध्ययन ही द्विज का सर्वोत्तम तप है। द्विज की सर्वोच्चता यही है कि वह शक्ति भर प्रतिदिन स्वाध्याय करता रहे।[86] मनु ने इस बात पर बल दिया है कि जो द्विज होकर वेदाभ्यास को छोड़कर अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही अपने परिवार सहित शूद्र हो जाता है।[87]याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि यज्ञ, तप और शुभकर्मों में वेदाध्ययन ही द्विज के लिए सर्वश्रेष्ठ मोक्ष का साधन है।[88] मनु ने विधान किया है कि यदि चारों वेदों का अध्ययन संभव न हो तो द्विज विशेषरूप से अपने पूर्वजों की शाखा के वेद का अध्ययन करे। इस प्रकार एक वेद और उसकी शाखाओं का अध्ययन करे, संभव हो तो अन्य शाखाओं को भी पढ़े।[89]याज्ञवल्क्य और गौतम ने एक–एक वेद को पढ़ने के लिए बारह वर्ष का समय निर्धारित किया है।[90]

वेदाभ्यास और तप के अतिरिक्त संयम भी शिष्य का मुख्य कर्तव्य माना गया है। संयम से ही तप की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त संध्या,

हवन और पितृयज्ञ को भी प्रतिदिन करने का विधान है। शिष्य के लिए भिक्षा वृत्ति का विधान है। शिष्य भिक्षा मांगकर गुरू के समुख उसे उपस्थित करे और गुरू के द्वारा प्रदत्त अंश को खावे। गुरू के आदेश का पालन करे। गुरू के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा हो और कहने पर बैठे। गुरू से नीचे आसन पर ही बैठे।[91] सूर्योदय से पूर्व उठे। सूर्योदय से पश्चात् उठने पर प्रायश्चित करें। ब्रह्मचारी के सिर के बालों की तीन विधियाँ बताई गई हैं– 1. सिर को मुड़ाकर रखना, 2. जटा बाँधकर रखना, 3. शिखामात्र रखना।[92]

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान की सर्वप्रथम किरण भारत में ही प्रस्फुटित हुई। जब संसार की अन्य मानव जातियों में शिक्षा की शुरूआत भी नहीं हुई थी तभी हमारे देश में शिक्षण की अनेक उत्तम विधियों जैसे अनुकरण, व्याख्यान,विचार–विमर्श, तर्क आदि का विकास हो चुका था। श्रवण,मनन और निदिध्यासन विधियां विकसित हो चुकी थीं। यद्यपि आज मनोविज्ञान के ज्ञान और विज्ञान एवं तकनीकी के आविष्कारों के आधार पर हमने अनेकानेक शिक्षणविधियों का विकास तो कर लिया है किन्तु वास्तव में इन विधियों का मूल स्वरूप स्मृतिकालीन उन्हीं विधियों में निहित है।

त्याज्य एवं निषिद्ध कर्म

शिष्य के लिए निषिद्ध या न करने योग्य कार्यों की बहुत लम्बी सूची मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य और औशनस स्मृति में दी गयी है।[93] शिष्य के लिए निषिद्ध कर्मो में विशेष उल्लेखनीय ये कार्य हैं– असत्य भाषण न करे, सूर्य की ओर न देखे, मद्य, मांस, स्त्री–संपर्क, हिंसा, चुगली आदि को छोड़े। काम, क्रोध, भय, निद्रा, गीत, वाद्य, जुआ, जीव–हिंसा, स्त्री की ओर देखना और उनसे वार्तालाप करना आदि कार्यों को छोड़े। एकान्त में स्त्री से बात न करे। व्यर्थ विवाद न करे। बासी अन्न न खावे। क्षुद्र पुरूष की सेवा, अश्लील बातचीत, आसब–सेवन न करे। नियम और संयम न तोड़े। स्त्री–सम्पर्क से दूर रहे। गुरू की चाल–ढाल, वाणी और क्रियाओं की भद्दी नकल न करे। गुरू की निन्दा कभी न सुने। यदि गुरूनिन्दा हो रही हो तो उस स्थान से हट जाए या काम बन्द कर ले। शिष्य को अपने गुरू, गुरूपुत्र, गुरूपत्नी, दीक्षित, अन्य गुरू, पिता, माता, चाचा, मामा, हितेच्छु, विद्वान्, श्वशुर, पति और मौसी के नाम नहीं लेने चाहिए।

हमारी संस्कृति अति प्राचीन काल से अध्यात्मवादी दर्शन पर आधारित रही है लेकिन आज हम अध्यात्मवादी दर्शन एवं संस्कृति को भूलकर भौतिकतावादी दर्शन की ओर उन्मुख हो गए हैं। आज पूरा का पूरा समाज भौतिकता के चकाचौंध से भ्रमित है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि हम वास्तविक सुख–शांति को भूलकर येनकेन प्रकारेण धन इकठ्ठा करने व भौतिक सुविधाएं एकत्र करने के चक्कर में पड़े रहते हैं। अतः आज भौतिकतावादी एवं आध्यात्मवादी संस्कृति में समन्वय स्थापित करने के लिए मूल्यपरक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान शिक्षा संस्थाओं द्वारा बालकों की भावी पीढ़ी को आखिर किन–किन मूल्यों का ज्ञान कराया जाए? भारतीय समाज विभिन्नताओं से भरा पड़ा है। बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुजातियों के लोग यहाँ रहते हैं। फिर भी भारत में विभिन्नता में एकता के दर्शन होते हैं। वास्तव में यह हमारी असली पहचान है। हमारी संस्कृति में सभी धर्मों और उनके अनुयायियों को समान महत्व दिया जाता है इस प्रकार भारतीय संस्कृति समन्वयवादी रही है। हमारे मनीषियों ने चार पुरूषार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष बताए हैं। समाजवादी समाज की स्थापना करना हमारा लक्ष्य है। लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समानता, भातृत्व, न्याय पर आधारित होता है। यही हमारे राष्ट्रीय एवं नैतिक मूल्य हैं जिन्हें

जीवन में उतारना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। एन.सी.ई.आर.टी ने पाँच जीवन मूल्यों को स्वीकारा है– सफाई, सच्चाई, श्रम ,समानता और सहयोग। भारतीय समाज की विविधता को देखते हुए गांधी जी द्वारा एकादश व्रत –1– सत्य, 2– अहिंसा, 3– अस्तेय, 4– अपरिग्रह, 5– ब्रह्मचर्य, 6– अस्वाद, 7– अभय, 8– अस्पृश्यता, 9– शारीरिक श्रम, 10–सर्वधर्म समभाव, 11– विनम्रता को जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। आज मानवता वादी दर्शन विकसित करने की आवश्यकता है। यह दर्शन मानवीय मूल्यों को नया अर्थ प्रदान करता है। मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है उसे वाह्य जगत के साथ–साथ अन्तर्जगत का ज्ञान भी मिलना चाहिए। जिससे व्यक्तित्व स्वतंत्र तथा संतुलित हो जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग ले सके। अतः सभी मूल्यों को किसी न किसी रूप में शिक्षा में स्थान देना एवं विकसित करने का प्रयास होना चाहिए। यहाँ ध्यान रहे कि मूल्यपरक शिक्षा को सफल बनाने के लिए कुछ विशेषताओं का होना नितान्त आवश्यक है–मूल्यपरक शिक्षा धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा से भिन्न होना चाहिए। किसी धर्म पर विशेष बल नहीं देना चाहिए। मूल्यपरक शिक्षा को विभिन्न विषयों के साथ समाहित करके दी जानी चाहिए। मूल्यपरक शिक्षा का केन्द्र बिन्दु भारत के संविधान में वर्णित नीति निर्देशक तत्व होने चाहिए। मूल्यपरक शिक्षा देना सभी शिक्षकों का समान उत्तरदायित्व होना चाहिए न कि किसी विशेष शिक्षक की। मूल्यपरक शिक्षा के लिए छात्रों को प्रेरित किया जाना चाहिए, उन पर बलात् थोपा नहीं जाना चाहिए।मूल्यपरक शिक्षा पाठ्य सहगामी क्रियाओं के साथ–साथ होना चाहिए। मूल्यपरक शिक्षा देते समय छात्रों की उम्र एवं स्तर का ध्यान रखा जाना चाहिए।

नैतिक शिक्षा की आधुनिक प्रासंगिकता

मानवता आज दो राहे पर खड़ी है। मानव धर्म के बुनियादी मूल्य यथा शांति, सौहार्द, सहिष्णुता, त्याग, प्रेम व स्नेह आज कमजोर होते जा रहे हैं। भौतिकतावाद की आँधी से आज विश्व का कोई देश अछूता नहीं हैं। भारत भी अपवाद नहीं है। भारत वर्ष ने निःसंदेह आज विज्ञान व तकनीक के क्षेत्र में असीमित उन्नति हासिल की है। भारतीय तकनीकी संस्थानों तथा आई. आई. टी. व आई. आई. एम. ने विश्वस्तरीय वैज्ञानिकों, इंजीनियरों एवं चिकित्सकों प्रबंधकों का निर्माण किया है जिनकी ख्याति सारे विश्व में व्याप्त है। इसी प्रकार की उपलब्धियाँ हमने अन्तरिक्ष–उड़ान, रक्षा तकनीक एवं परमाणु–ऊर्जा क्षेत्रों में हासिल की है। भारत की गिनती इन समस्त क्षेत्रों में चुनिंदा देशों में होती है। किन्तु इस उन्नति का दूसरा पहलू निराश करने योग्य हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि वर्तमान अतीत की नींव पर ही आधारित होता है यद्यपि वैदिक शिक्षा प्रणाली के पश्चात हमारे देश मे बौद्ध, मुस्लिम एवं अंग्रेजी शिक्षा प्रणालियों का विकास हुआ किन्तु वैदिक शिक्षा प्रणाली निरंन्तर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनमें विद्यमान रही है। आज भी देश मे वैदिक शिक्षा प्रणाली पर आधारित धार्मिक शिक्षा केन्द्रों के रूप में गुरूकुल एवं संस्कृत विद्यालय चल रहे है। यूँ इनका स्वरूप वैदिक कालीन ऋषि आश्रमों और गुरूकुलों से काफी भिन्न है पर मूल आधार तो वही हैं। आधुनिक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास में भी इसकी आधारभूत भूमिका है। आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली के विकास में इसके प्रभाव को अलग अलग क्षेत्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

सर्वप्रथम देश की शिक्षा व्यवस्था में राज्य और समाज की भागीदारी का शुभारम्भ वैदिक काल से माना गया है यद्यपि तत्कालीन शिक्षा की

व्यवस्था राज्य का उत्तरदायित्व न थी किन्तु गुरू राजा (राज्य) और प्रजा (धनी वर्ग) दोनों को शिक्षा की व्यवस्था करने हेतु प्रेरित करते थे। राजा और समाज दोनों ही गुरूकुलों को खुले हाथों से दान देते थे। वर्तमान में भी हमारे देश में शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व तो है किन्तु बिना समाज के सहयोग के राज्य अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पा रहा है। इस प्रकार आज भी शिक्षा व्यवस्था में राज्य एवं समाज की भागीदारी की प्रासंगिकता को अनुभव किया जा रहा है।

यह स्पष्ट है कि स्मृति काल में शिक्षा का संगठन केवल दो स्तरों पर किया गया था–प्राथमिक एवं उच्च। तात्पर्य यह है कि शिक्षा को विभिन्न स्तरों में विभाजित करने का आरम्भ तबसे हुआ। वर्तमान समय में शिक्षा संगठन को परिस्थितियों एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर कई स्तरों शिशु शिक्षा,प्राथमिक,माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में विभाजित किया गया है। स्मृति काल में शिक्षा शब्द का प्रयोग संकुचित एवं व्यापक दोनों अर्थों में किया जाता था, आज भी उसका प्रयोग दोनों अर्थों में किया जाता है बस अन्तर इतना है कि तब शिक्षा को ज्ञान और कौशल का पर्याय माना जाता था और अब शिक्षा को ज्ञान और कौशल प्राप्त करने की प्रक्रिया माना जाता है।

स्मृतिकाल में अनुशासन का अर्थ था, शारीरिक मानसिक और आत्मिक संयम। गुरू के आदेशों एवं गुरूकुल के नियमों का पालन अनुशासन की दृढ.ता को उजागर करते आए हैं। इसी आधार पर आज भी हम अनुशासन के इन दोनों रूपों आन्तरिक (नैतिक नियमों हेतु स्वीकृति एवं उसके अनुसार आचरण) एवं बाह्य(नैतिक नियमानुसार आचरण) को समान महत्व देते हैं। जबकि संसार में अनुशासन संबन्धी अनेक धारणाएं पाई जाती हैं किन्तु हमारी अनुशासन संबन्धी धारणा के मूल में स्मृति काल धारणा व्याप्त है।

भारत में आज भी ि"क्षक और ि"क्षार्थियों के मध्य अन्य दे"ों की तुलना में अपेक्षाकृत बहुत अच्छे संबन्ध पाए जाते हैं। वैदिक काल में गुरू और ि"ष्य का संबंध प्रेम और श्रद्धा का हुआ करता था। दोनों के बीच इन सुदृढ. संबंधों की नींव इतनी गहरी थी कि आज भी अनेकानेक उदाहरण इस संबंध को दृढ़ता प्रदान करने का कार्य किया करते हैं। यद्यपि वैदिक काल में प्राथमिक ि"क्षा की व्यवस्था परिवारों और उच्च ि"क्षा की व्यवस्था गुरूकुलों में होती थी। इसी प्रकार आज भिन्न–भिन्न स्तरों की ि"क्षा की व्यवस्था भिन्न भिन्न प्रकार के विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं वि"वविद्यालयों में होती है। वास्तविकता यह है कि इसकी नींव भी वैदिक काल में ही रख दी गई थी। उस काल में अलग अलग प्रकार की उच्च ि"क्षा हेतु अलग–अलग प्रकार के गुरूकुलों की व्यवस्था थी। उसी आधार पर आज भिन्न भिन्न आयुवर्ग और भिन्न भिन्न पाठ्यक्रमों के आधार पर विद्यालयों की स्थापना की जाती है। यदि हम आज के विद्यालयों की स्थापना स्मृतिकालीन गुरूकुलों की भांति करें एवं छात्रों में संस्कार प्रधान क्रियाओं को स्थान दें तो अव"य ही पुनः संस्कार प्रधान ि"क्षा की व्यवस्था कर सकेंगें।

स्मृतिकालीन शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक थे। उस समय शिक्षा द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चरित्रिक, व्यवसायिक एवं आध्यात्मिक विकास किया जाता था। यही शिक्षा के सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक उद्देश्य हैं जो आज भी हमारे देश की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य हैं। आधुनिक भारतीय शिक्षा के उपर्युक्त मूल उद्देश्यों में कोई बदलाव नहीं आया है बस समय और व्यवस्था के अनुरूप राष्ट्रीय एकता एवं अंतर्राष्ट्रीय अवबोध का विकास एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति यह दो उद्देश्य और जोडे. गए हैं।

स्मृतिकालीन शिक्षा की पाठ्यचर्या अत्यंत विस्तृत थी ,उसमें उस समय तक विकसित समस्त ज्ञान एवं कौशल संगठित था। इसी आधार पर वर्तमान भारतीयं शिक्षा में भी आज तक विकसित समस्त ज्ञान–विज्ञान,कला–कौशल एवं तकनीकी को स्थान दिया गया है। भेद बस इतना है कि स्मृतिकाल में भाषा, साहित्य, धर्म और नीतिशास्त्र आदि के अध्ययन पर बल दिया जाता था और आज भाषा, गणित विज्ञान एवं तकनीकी के अध्ययन पर वास्तव में यह परिर्वतन आज के वैज्ञानिक युग की मांग के कारण माना जा सकता है।

स्मृतिकालीन में आज की व्यवसयिक शिक्षा को कर्म की परिभाषा के अंतर्गत माना गया था। इस कर्म शिक्षा को छात्रों की योग्यता और क्षमता के आधार पर दिया जाता था। उत्तर वैदिक काल में यह शिक्षा वर्ण के आधार पर दी जाती थी। आधुनिक युग में लोकतंत्र शासन प्रणाली होने के कारण इस व्यवसायिक शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमतानुसार ग्रहण करने का अधिकारी है। कहना न होगा कि यह देन भी स्मृतिकालीन शिक्षा की ही है बस इसके स्वरूप में जो अन्तर हुआ है वह विकास की प्रक्रिया का परिणाम है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि स्मृतिकालीन शिक्षा प्रणाली आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली की नींव का पत्थर है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में प्राचीन प्रणाली के अनुपम योगदान एवं उसकी प्रासंगिकता को क्षण भर को विस्मृत नहीं किया जा सकता क्योंकि स्मृतिकालीन शिक्षा प्रणाली हमारी संस्कृति एवं धर्म पर आधारित है और संस्कृति से हम पृथक् नही हो सकते। यह बात सत्य है कि वैदिक काल में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर सबसे अधिक बल दिया जाता था और आधुनिक समय में हम धर्मनिरपेक्षता के नाम पर किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान करने से कतरा रहे हैं। किन्तु इसके अभाव में हमारा कितना नैतिक एवं चारित्रिक पतन हुआ है, यह अब छिपा नहीं है अतएव इसकी आवश्यकता को निरंतर महसूस किया जा रहा है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में स्मृतिकालीन शिक्षा प्रणाली के मूल तत्व विद्यमान होने के कारण आज भी भारतीय शिक्षा प्रणाली विश्वपटल पर अन्य देशों की तुलना में अधिक नियंत्रित एवं समृद्ध है। यद्यपि स्मृतिकालीन प्रणाली की कुछ कमियां रही हैं जो वर्तमान आधुनिक प्रणाली के विकास में सहायक रही हैं। किन्तु वर्तमान प्रणाली के आधारभूत तत्वों के रूप में स्मृतिकालीन शिक्षा एवं शिक्षा प्रणाली की अनिवार्यता एवं प्रासंगिकता को कभी समाप्त नही किया जा सकेगा।

आज वैश्वीकरण के युग में मानव अनेक चुनौतियों एवं सम्भावनाओं के मध्य जीवन–यापन कर रहा है। त्वरित गति से परिवर्तित हो रही वैश्विक गतिविधियाँ नित्य नवीन रूप में हमारे समक्ष हैं। सूचना एवं संचार की विभिन्न तकनीकियों ने ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में नया आयाम प्रस्तुत किया है। आज जहाँ नई पीढ़ी के समक्ष अनेकों महत्त्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण अवसर हैं, वहीं अनेकों विकट समस्याएं भी हैं। भोग प्रधान पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण आज शिक्षा का उद्देश्य धनोपार्जन तक ही सिमटकर रह गया है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों, महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों के अध्यापकों एवं छात्रों की संख्या में बेतहासा वृद्धि हुई है। शिक्षा पर व्यय भी बढ़ा है, क्या उस अनुपात में सच्चे मनुष्य का निर्माण हुआ है।? 'आज स्कूलों से बच्चे एक कारखाने के उत्पाद की तरह पढ़कर बाहर निकलते हैं। एक सी यांत्रिक शिक्षा ग्रहण करके नौकरी पाने को एक–दूसरे से होड़ करते रहते हैं। नौकरी के अतिरिक्त इस शिक्षा की उपयोगिता नहीं है शिक्षा में न तो प्रकृति का वर्ण

भेद आधार है, न ही व्यक्ति के संस्कार और पारिवारिक परिवेश। एक व्यापारी/उद्योगपति के बच्चे को भी नौकरी माँगने वाली शिक्षा दी जाती है। किसी को पेट भरना सिखाने के लिए जीवन का कितना बड़ा भाग व्यर्थ जा रहा है। रेल के डिब्बों की तरह सारे बच्चे एक जैसे तैयार हो रहे हैं। सच्चाई यह है कि सबको ही अपना – अपना जीवन अलग तरह से जीना है। इसका मुख्य कारण है शिक्षा में मानवता का अभाव।..... .हमारी विकृत मानसिकता ने पूरे समाज के आर्थिक ढ़ाँचे को ही तहस–नहस कर दिया। जिस गति से स्कूल खोले जा रहे हैं, उस गति से अच्छे शिक्षक भी तैयार नहीं हो सकते। स्कूलों के नाम पर कारखाने खड़े किये जा रहे है।'[94] नकल और स्पर्द्धा पर आधृत जीवन–शैली से न तो हम पूर्ण मानव बन सकते हैं और न सुख–शांति प्राप्त कर सकते हैं। आखिर वर्तमान संसार के असंतोष, कष्ट, विद्वेष ओर हाहाकार का कारण क्या है? कि आज हम मानवीय पुरूषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से धर्म एवं मोक्ष को अपने समाज एवं शिक्षा –व्यवस्था से पूर्णतः बहिष्कृत कर चुके हैं और मात्र अर्थ एवं काम (इच्छापूर्ति) को ही अपने जीवन का उद्देश्य मान चुके हैं। फलतः आज समाज में एक ओर जहाँ भौतिक सुख–समृद्धि असीम है वहीं दूसरी तरफ वास्तविक सुख–शांति नहीं है समस्त जगत् सर्वनाश के भय से आतंकित एवं त्रस्त है। विश्व को इस सर्वनाश की विभीषिका से बचाना है तो नैतिकता एवं आध्यात्मिकता को शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाना ही होगा क्योंकि उसी के द्वारा भौतिक अभ्युदय के साथ आध्यात्मिक कल्याण की सिद्धि सम्भव है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान परिदृश्य में शिक्षा में सुधार आवश्यक है। उद्देश्य परक शिक्षा के लिए शिक्षा – व्यवस्था मानव–मूल्यों पर आधृत होनी चाहिए। यद्यपि परम्परागत रूप से गुरूकुल में दी जाने वाली शिक्षा वर्तमान में आधुनिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में पूर्णतः सक्षम नहीं हो सकती तथापि शिक्षा को यदि नैतिकता से जोड़कर संचालित करने पर जोर दिया जाये तो आधुनिक सभ्यता के लिए श्रेयस्कर होगा। 'सर्वेभवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' के लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक प्रबुद्धता विकसित करनी होगी तभी शिक्षा वास्तविक रूप से फलीभूत होगी।

वास्तव में सामाजिक विकास के दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं शिक्षा एवम् तकनीकी विकास। तकनीकी विकास के क्षेत्र में हुई सफलता से हमारा देश अत्यधिक समुन्नत होता जा रहा है। त्वरित संचार के साधनों से सम्पूर्ण विश्व पारिवारिक इकाई सा हो गया है आज मीडिया के माध्यम से देश के किसी भी कोने में घटी घटना कुछ की क्षणों में सम्पूर्ण विश्व में चर्चित हो जाती है। चतुर्दिक विकास के काल में यदि क्षरण हुआ है तो नैतिक मूल्यों का। इसे दुर्भाग्य कहें या अत्याधिक महात्त्वाकांक्षी मानव की सोच, कि जिस भारत देश में नैतिक मूल्य ही उसकी पूँजी थी, वही पूँजी आज नष्ट होती दिखाई दे रही है और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव धन लिप्सा की चाह में चाहते हुए भी मानवीय नैतिक मूल्यों का संरक्षण नहीं कर पा रहा है।

इस बदलते परिवेश में नवीन परिस्थितियों व प्राचीन संस्कृति के मध्य समन्वय रखते हुए भविष्य का चिन्तन करना होगा। यद्यपि स्मृतिकालीन शिक्षा और आधुनिक शिक्षा के मध्य शताब्दियों का अन्तराल है। स्मृतिकालीन शिक्षा पद्धति की पुनरावृत्ति असम्भव है फिर भी यदि गम्भीरता से विचार करें तो यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि यदि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में स्मृतिकालीन शिक्षा प्रणाली के कुछ तथ्यों का समायोजन किया जाये तो हम आधुनिक शिक्षा को अधिक प्रभावशाली बना सकते हैं जैसा कि वर्णन भी किया जा चुका है कि स्मृतिकालीन शिक्षा में मानव–जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जिसकी उपेक्षा की गयी हो। शारीरिक शिक्षा,

पर्यावरण सम्बन्धी ज्ञान, नैतिक शिक्षा, मंत्र शिक्षा आदि, सभी वर्णनीय विषयों का वर्णन है। इसे अतिरिक्त बुद्धि का विकास[95] अज्ञान दूर करना [96] ज्ञान प्रदान करना [97] चिन्तन क्षमता में वृद्धि [98] विश्व कल्याण की भावना [99] शुद्धाचरण [100] विद्या और व्यवहार बुद्धि का समन्वय[101] ज्ञान और कर्म का समन्वय [102] आध्यात्म और भौतिक वाद का समन्वय [103] अनुशासन और समर्पण [104] सभी विवेचित विषयों पर विस्तृत सामग्री मिलती है। इसके अतिरिक्त दीक्षान्त समारोह के अवसर पर गुरु द्वारा दिये गये भाषण में मानव–जीवन के सभी व्यवहारिक पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

आदर्श शिक्षा प्रणाली का आज पूर्णतः लोप हो चुका है। आज न आचारनिष्ठ आचार्य हैं और न ही श्रद्धाभाव सम्पन्न जिज्ञासु शिष्य। शिक्षित जनों के आँकड़ों में निरन्तर वृद्धि होने पर भी नैतिक व आध्यात्मिक विकास का मार्ग अवरूद्ध है। मूल्य परक शिक्षा के माध्यम से सहयोग, सहानुभूति, परोपकार, भ्रातृत्व, कर्त्तव्यनिष्ठा, स्वाभिमान आदि भावों के माध्यम से मानव अपनी समस्याओं का समाधान कर जीवन को आनन्दमय बना सकता है।

वास्तविकता तो यह है कि इन स्मृतियों में स्मृतिकालीन नैतिक शिक्षा प्रणाली की अपनी विशेषताएं हैं जिनका वर्तमान षिक्षा प्रणाली में अभाव हो जाने से अनेकों समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं वेदों में मानव–जीवन का व्यवहारिक पक्ष वर्णित है ऋषियों की सार ग्रहिणी मेधा के प्रतीक वेदों में व्यक्ति मात्र का ही नहीं वरन् विश्व कल्याण तथा वसुधैव कटुम्बम् का सिद्धान्त प्रसारित है।

आज विकास की दृष्टि से वर्तमान में उपयोगितावादी शिक्षा पद्धति को रचनात्मक मोड़ देने की आवश्यकता है। प्रतिदिन पतित होते हुए नैतिक मूल्यों के संरक्षण की आवश्यकता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में वैदिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों को भी स्थान देने की आवश्यकता है क्योंकि शिक्षा एक ऐसी सतत प्रक्रिया है जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अनवरत किसी न किसी रूप में चलती रहती है। भारतीय समाज के स्वरूप और आवश्यकताओं की दृष्टि से वैदिक शिक्षा के के संग्राह्य तत्त्वों को ग्रहण कर वर्तमान शिक्षा प्रणाली को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर आधारित शाश्वत वैदिक शिक्षा प्रणाली हमारे जीवन का सम्बल है। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस के एक स्थान पर अपने भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि अगर मैं विश्व भर में उस देश को ढूँढने के लिये चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूँ, जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों से लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है तो मेरी अंगुली भारत की ओर उठेगी।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन कर शिक्षा को मूल्यपरक बनाया जाये। शिक्षा के क्षेत्र में शैक्षिक संसाधनों व मानवीय संसाधनों का समुचित उपयोग किया जाये। शोध व अनुसंधान हेतु व्यापक प्रयास किये जायें, जिससे शिक्षा में नवाचार लाया जा सके। पाठ्यक्रम को सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक बनाने के साथ–साथ क्रियात्मक एवं प्रयोगात्मक भी बनाया जाये, जिससे इसमें गुणवत्ता व समुचित सुधार की संभावनाओं में वृद्धि हो, शिक्षण प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के माध्यम से शिक्षक, प्रशिक्षकों में स्वाध्याय, स्वविकास, स्वचिंतन स्वमूल्यांकन जैसी भावनाओं को विकसित किया जाये। नवाचारों के अनुकूल महाविद्यालयों का वातावरण बनाकर सूचना प्रौद्योगिकी साधनों तथा इन्टरनेट, वीडियोकान्फ्रेंसिंग आदि के प्रयोग करने के समुचित अवसर शिक्षार्थियों को प्रदान किये जाएं, जिससे वे इनका प्रयोग करने में योग्यता व दक्षता प्राप्त कर सकें। शिक्षकों को भी कार्यशाला, सेमिनार व रिफ्रेशर कोर्स आदि के माध्यम से अपने मूल्यांकन का अवसर प्रदान किया जाये।

वैश्वीकरण के युग में शिक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुचाँने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं व आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षकों का भी मूल्यांकन करना होगा।

स्मृतिकालीन सभ्यता एवं संस्कृति के प्राणभूत वेद प्रभुप्रदत्त वरदान है और वैदिक शिक्षा ही ऐसी शिक्षा है जिसके माध्यम से मानव आधुनिक समाज को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व को नई दृष्टि दे सकता है। स्मृतिकालीन शिक्षा सामयिक विद्रूप परिस्थितियों में चरित्र निर्माण की सुन्दर पाठशाला है जिसमें प्रस्तुत शिक्षायें अनन्त काल तक हमारा मार्ग दर्शन करती रहेंगी। वर्तमान काल में उनकी उपादेयता सार्वकालिक है। दिग्भ्रमित अज्ञान मार्ग की ओर अग्रसर मानव के लिए यह प्रकाश स्वरूप हैं। तमसो मा ज्योतिर्गमय यह कथन इस की पुष्टि में स्पष्ट प्रमाण है। इसी के माध्यम से युवापीढ़ी सशक्त तथा सृजनोन्मुख हो समुन्नत राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो सकती है।

स्मृतिकाल से ही मानव की भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षमता के चहुँमुखी विकास के लिए नैतिक शिक्षा आधारभूत इकाई के रूप में कार्य करती रही है इससे राष्ट्रीय एकता, वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा मन और आत्मा की स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने वाली संवेदनाओं व अनुभूतियों का परिष्कार होता है। स्मृतिकाल की शिक्षा से न केवल हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है अपितु हम राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल होकर राष्ट्र–निर्माण में सहयोग करते हैं।

भारत में प्राचीन काल से शिक्षा की व्यवस्था 'पाठशाला' व 'गुरूकुल' में दी जाती थी। इस पद्धति में जीवन मूल्यों व आदर्शों पर विशेष बल दिया जाता था। इसमें आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, ध्यान, ब्रह्मचर्य, चरित्र–निर्माण इत्यादि को शिक्षा का उद्देश्य माना गया है। शिक्षा पुस्तक ज्ञान तक सीमित नहीं थी वरन् व्यावहारिक पक्ष का एक दर्शन भी थी। लेकिन दुःख है कि आज नैतिकता एवं अध्यात्म का समाज से लोप होता जा रहा है और अक्षर ज्ञान ही शिक्षा की कसौटी एवं विद्वत्ता का सूचक हो गया है। शिक्षा का उद्देश्य केवल अक्षर ज्ञान नहीं वरन् व्यक्ति विशेष में अन्तर्निहित विशिष्ट गुणों को उजागर करते हुए मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है एवं मनुष्य में विभिन्न गुणों, सभ्यता, नैतिकता, आत्मविश्वास स्वाभिमान, सद्व्यवहार, विनम्रता, मौलिक चिन्तन, सृजनात्मक क्षमता, नेतृत्व क्षमता, त्याग, सहनशीलता आदि का विकास करना है।

स्मृतिकालीन शिक्षा व्यवस्था मानवमूल्यों की अर्थवत्ता पर बल देती रही है। भौगोलिक एवं सामाजिक विषमताओं के होते हुए भी समस्त देश एक राष्ट्रीय संस्कृति का पुजारी रहा है। 'कहने को हमारे देश में लोकतंत्र है, किन्तु समस्त व्यवस्था को कलि की धुरी पर खड़ा कर दिया गया है। कुशल व्यक्तियों का निर्माण करने की प्रवृत्ति लोकहित की दृष्टि पर आधारित न होकर वैयक्तिक सुख–स्पर्धा का साधन बन गई है।'[105] फलतः आज लोकतांत्रिक समाज के मूल्यों की अवहेलना हो रही है। जिसके कारण शिक्षा में अनेक समस्याओं का आगमन होता जा रहा है। शिक्षा की गुणवत्ता, अध्यापन कला की दिशाहीनता, कुशल अध्यापकों की कमी, छात्रों में आत्मविश्वास की कमी, अनुशासनहीनता, कुल मिलाकर मूल्यहीनता आदि ऐसी विषम परिस्थितियों को उत्पन्न कर रही है जिससे कि शिक्षा–प्रणाली में सुधार अपेक्षित है। नैतिक शिक्षा के माध्यम से समाज में, मानव–मूल्यों, मानव संसाधनों की गुणवत्ता और सांस्कृतिक विविधता के प्रति सम्मान संभव है।'[106]

नैतिक शिक्षा हमारे जीवन में एक आवश्यक विचार एवं महत्ता प्रदान करती है। प्राचीन काल में भी शिक्षा की महत्ता का वर्णन भर्तृहरि के श्लोक में मिलता है–

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं,
विद्या भोग करीपषः सुसकारी विद्या गुरूणां गुरूः।
विद्या बन्धुजनों विदेशगमने विद्या परम दैवतं, विद्या
राजस् पूजितास्सुधनं विद्याविहीन : पशुः।

तात्पर्य यह है कि शिक्षा के अभाव में मनुष्य पशुतुल्य है। इस संदर्भ में पं. विद्यानिवास मिश्र के विचार भी प्रासंगिक हैं। उनका मत है कि 'शिक्षा हमें तमाम आघातों से बचने के लिए कवच देती है। सभी परिस्थितियों में अपने को अनुकूल बनाने के लिए क्षमता देती है और ऐसी परिस्थितियों में जिनसे हम भटक जाँय तो ठीक राह पर आने की सूझ –बूझ देती है। यदि शिक्षा यह नहीं है तो फिर शिक्षा एक पराधीनता है, केवल एक भटकाव है, दिशाहीनता है।'[107]

शिक्षा में नैतिकता का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा को मूल्य नियंत्रित और निर्देशित करते हैं। नैतिकताविहीन शिक्षा निरर्थक और निर्जीव समझी जाती है। यही कारण है कि आज चारों तरफ मूल्य परक शिक्षा की बात की जा रही है। मूल्य और शिक्षा में गहरा सम्बध होता है। मूल्य शिक्षा वह है जो बालकों को मूल्यों की शिक्षा देती है अथवा उनमें मूल्यों का विकास करती है। शैक्षिक मूल्यों के द्वारा छात्र आत्मानुभूति करते है और शिक्षक शैक्षिक आवश्यकताओं को समझने में सफल हो पाते हैं। पाठ्यचर्या के निर्धारण से ही मूल्य निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। मूल्य परक शिक्षा का अभिप्राय उस शिक्षा से है जो छात्रों में शाश्वत मूल्यों तथा देशकाल, मानव कल्याण के सन्दर्भ में आवश्यक जानकारी प्रदान करे और भविष्य में मानवीय आत्मा के उत्थान में सहयोग, तर्कसंगत, वस्तुपरक और समुचित मूल्यों से ओत–प्रोत हो।

मूल्य शिक्षा को न तो हम धार्मिक शिक्षा का रूप कह सकते हैं और न ही नैतिक शिक्षा। यह मूलतः एक धर्म निरपेक्ष शिक्षा है। जिसमें परम्परा, आधुनिकता, शाश्वत मूल्यों, सांस्कृतिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी मूल्यों का मिश्रण होता है जिससे मानव जीवन में आध्यात्मिक उत्थान, विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास होता है। वास्तव में मूल्यपरक शिक्षा सत्य, धर्म, शक्ति, प्रेम, अहिंसा इन्हीं मानवीय मूल्यों के विकास पर जोर देती है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर शिक्षा की पाठ्यचर्या, शिक्षण विधि की योजना बनाई जाती है जिससे हमारी सांस्कृतिक परम्परा विकसित हो, छात्रों में मूल्यपरक दृष्टिकोण विकसित हो जिससे राष्ट्र अमन–चैन से रह सके और विध्वंसक गतिविधियों का अंत हो। इस प्रकार जब मूल्यों को आधार बनाकर शिक्षा की प्रक्रिया को संगठित और सुव्यवस्थित की जाती है तो इसे मूल्य शिक्षा या मूल्यपरक शिक्षा कहते हैं जो परम्परागत रूप से प्रचलित धार्मिक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा से अधिक आधुनिक, उत्कृष्ट और व्यापक होती है।

मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को आदर्शवान, चरित्रवान मानव बनाना है जो मानवीय आदर्शों, गुणों व व्यवहार के प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार करने लगें। अपने परिवेश के साथ समायोजन कर सके, सही निर्णय लेने की क्षमता का विकास हो सके, जीवन में एकता स्थापित कर सके, अपने भविष्य के लिए योजना बनाकर सुखानुभूति कर सकें तथा समरसता की स्थापना कर सके। आज समाज में भय, अशांति का वातावरण व्याप्त है समाज में उथल–पुथल मचा हुआ है। न्याय, हिंसा, अत्याचार, आतंकवाद बढ़ रहा है मानवता का ह्रास हुआ है। ऐसे समय में सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि समाज में मूल्यपरक शिक्षा का विधान किया जाय। हमारा देश लोकतांत्रिक मूल्यों को मानने वाला देश है। स्वतंत्रता, समानता, भातृत्व, न्याय, समाजवाद, धर्म निरपेक्षता को पूरी तरह स्वीकार करता है। बावजूद इसके संस्कृति हीनता, अमानवीयता, अलगाववाद, जातिवाद सम्प्रदायवाद, प्रान्तीयता एवं अन्य विघटनकारी शक्तियाँ दुनियाँ के सबसे बड़े लोकतंत्र को कमजोर करने में लगी हुई है।

आज लोकतंत्र के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है । ऐसी स्थिति में मूल्यपरक नैतिक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारी नैतिक शिक्षा पद्धति इस तरह की हो जिसमें पूर्व की परम्परा एवं बुद्धिमता तथा पश्चिम की तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति के बीच समन्वय हो । यदि हमें विकास करना है तो मनुष्य को मानवता प्रदान करने वाली, राष्ट्र को सुराष्ट्र बनाने वाली शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। नैतिक शिक्षा देने में जितनी ही देर करेंगें उतना ही हमारा राष्ट्र तेजहीन होता चला जाएगा। हमारा समाज बहुआयामी समाज है इसलिए शिक्षा के द्वारा शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए जो अनेकता में एकता का भाव पुष्ट करे। इन मूल्यों से धार्मिक अंध विश्वास, असहिष्णुता, हिंसा, असत्य, अकर्मण्यता का अंत करने में सहायता मिलेगी। इस संघर्षात्मक भूमिका के साथ–साथ मूल्य शिक्षा का एक सकारात्मक पहलू भी है जिसका आधार हमारी सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय लक्ष्य और सार्वभौमिक दृष्टि है जिनपर बल दिया जाना चाहिए। यह इस शताब्दी के लिए चुनौती है हम इक्कीसवीं सदी में सांस ले रहे है ऐसे में यह नितान्त आवश्यक है कि हम अच्छे मानव के रूप में अपने को प्रदर्शित कर सकें।

वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है हम अपनी शिक्षा प्रणाली को उचित रूप में मूल्योन्मुख करें, हमें इस बात पर जोर देना चाहिये कि शिक्षा के सभी स्तरों पर विद्यार्थियों के मन में उचित मूल्यों को बैठाने पर ध्यान दिया जाये। जीवन–मूल्य एक प्रकार के स्थायी विश्वास होते हैं। अतः प्रारम्भ में एक बार जिन मूल्यों का बीज बालक में बो दिया जाता है, उनमें परिवर्तन करन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्राथमिक षिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों पर बालकों का निर्माण करने का महान उत्तरदायित्व हैं । सभी विषयों के शिक्षण द्वारा मूल्यों के ह्रास को रोका जा सकता है। भाषाओं के शिक्षण के अन्तर्गत कहानियों से, किसी पात्र की किसी प्रसंग–विशेष में उक्तियों से, पात्रों के व्यवहार में, पाठ में आई हुई कहावतों एवं मुहावरों के प्रसंग आदि से मूल्यों की शिक्षा दी जा सकती है। इतिहास में समाज सुधारकों एवं देशभक्तों की जीवनियों तथा उनके अच्छे कार्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण से सत्य, दया, प्रेम, धैर्य, सहानुभूति, निर्भयता, अहिंसा, दानशीलता, क्षमा, उदारता, साहस आदि मानवीय मूल्यों को समझाया जा सकता हैं। विज्ञान के शिक्षण द्वारा बालकों में महत्वाकांक्षा, कठोर परिश्रम, साहस, लगन, तर्कशक्ति, ईमानदारी, दृढ़ विश्वास, निडरता, आत्मविश्वास आदि मूल्य विकसित किये जा सकते है। अच्छे मूल्यों के विकास में विद्यालय का वातावरण, शिक्षकों का व्यक्तित्व एवं आचरण तथा विद्यालय में दी जाने वाली सुविधाओं का प्रभाव तो पड़ता ही है शिक्षा संस्थाओं में सम्पन्न होने वाली शिक्षायें मूल्यों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान करती है। जिनमें दैनिक प्रार्थना, सामुदायिक सेवा कार्यक्रम, श्रमदान तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रमुख है।

विद्यालय में विभिन्न महापुरूषों की जयन्तियों, धार्मिक उत्सवों का आयेाजन करना चाहिये। विद्यालय में समय–समय पर भाषण संगोष्ठी, निर्देशन, ट्यूटोरियल आदि को अपनाया जा सकता है। आपसी सहयोग एवं सद्भावना के माध्यम से छात्रों में धर्मों के प्रति आदर को अधिकाधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। शिक्षक का व्यवहार वैयक्तिक मूल्यों की सहज शिक्षा दे सकता है। यदि शिक्षक अच्छे मूल्यों का अनुसरण करने वाला हो तो वह छात्रों के लिये प्रेरणा बन सकता है। हर छात्र का आदर्श उसका शिक्षक ही होता है। वह वहीं कार्य करने की चेष्टा करता है जो शिक्षक करता है । शिक्षक जिन मूल्यों को छात्रों को देना चाहता है वे स्वयं उसमें भी व्यक्त होने चाहिये।

यदि हम मानवीय मूल्यों के प्रति छात्रों में अटूट विश्वास उत्पन्न कर सकें और प्रभावी ढंग से उपयोग कर सकें तो हम उस स्तर को प्राप्त कर लेंगे जिसकी हमारी शिक्षा पद्धति से अपेक्षा की जाती है। वर्तमान समाज में मूल्यों का ह्रास शिक्षा के लिये गम्भीर चुनौती है जिसे स्वीकार करके शिक्षा को ही मूल्यों का विकास करना होगा तथा मूल्यों के ह्रास को रोकना होगा।

जो देश कभी अपनी शिक्षा–पद्धति ज्ञान के आधार पर जगद्गुरू हुआ करता था, हम उसी आध्यात्मवादी दर्शन व संस्कृति को भूलकर भौतिकवादी दर्शन की ओर उन्मुख हो रहे हैं। परिणामस्वरूप वैचारिक शून्यता और दुष्प्रवृत्तियों के चक्रव्यूह में फँसा हुआ दिशाहीन मनुष्य पतन की राह पर फिसलता जा रहा है। समाज सेवा का क्षेत्र हो या धर्म–अध्यात्म अथवा राजनीति का, चारों ओर अवसरवादी, सत्ता लोलुपता, आसुरी प्रवृत्ति के लोग ही दिखायी देते हैं। शिक्षा का क्षेत्र जहां कभी सेवा के उच्चतम आदर्शों का पालन होता था, आज उदारता, ईमानदारी श्रमशीलता का सर्वत्र ह्रास होता जा रहा है। इस सबके पीछे अंग्रेजी कालीन शिक्षा व्यवस्था का हाथ है। लार्ड मैकाले ने भारत को शिक्षा –प्रारूप प्रस्तुत करते हुए अपनी सत्ता के समकक्ष कहा था कि– "भारत की संतानों को ऐसी शिक्षा दी जाए, जिससे कि वे वर्ण से भारतीय हो किन्तु मस्तिष्क से ब्रिटिश"[108] ब्रिटिश राज्य द्वारा प्रदत्त शिक्षा –पद्धति ने विद्यार्थियों में अकर्मण्यता और विवेक हीनता को जन्म देकर आध्यात्मिक पक्ष का समूल विनाश कर दिया। ब्रिटिश–साम्राज्य शैक्षिक जगत में रोग फैलाने में सफल हो गया। उसने भारतीयों के मस्तिष्क को इतना संकुचित कर दिया कि वे शिक्षा का उद्देश्य मात्र नौकरी समझने लगे तथा शिक्षा परीक्षा उत्तीर्ण करने का पर्यायवाची हो गयी। जीवन की समस्याओं का निराकरण करने और जीवन सफल बनाने की शक्ति उस शिक्षा में नहीं रही।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आध्यात्मवादी दर्शन एवं संस्कृति तथा भौतिकवादी दर्शन एवं संस्कृति के मूल्यों में मतभेद है, किन्तु आज दोनों ही प्रकार के मूल्यों की आवश्यकता है क्योंकि न तो हम पूर्णतया भौतिकवादी जीवन व्यतीत कर सकते हैं और न ही आध्यात्मवादी जीवन से हमारा काम चल सकता है। अतः वर्तमान समय में भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी संस्कृति में समन्वय स्थापित करने के लिए नैतिक शिक्षा की अति आवश्यकता है। इससे हम मूल्य–संघर्ष' की स्थिति से भी बच सकते हैं। इस सन्दर्भ में पंडित जवाहर लाल नेहरू का कहना है कि "विद्यालयों का कार्यक्षेत्र केवल छात्रों को पास कराने तक ही सीमित नहीं है। किताबी ज्ञान देना ही उनका कर्तव्य नही है, अपितु छात्रों का हर तरह से विकास करना उनका कर्त्तव्य है।"

इस कथन से परिदृश्य में हम प्राचीन गुरू–शिष्य परम्परा के आलोक में वर्तमान स्थिति को देखें तो पाते हैं कि आज के गुरू की स्थिति तो व्यवसायी की हो गयी है। शिष्य क्रेता है और गुरू विक्रेता, आज गुरू और शिष्य दोनों के जीवन का लक्ष्य धन कमाना ही रह गया है। जबकि शिक्षा की वास्तविक उपयोगिता ज्ञानार्जन, हमारी प्रतिभा व क्षमता का विकास है। महात्मा गांधी ने इस बात को स्वीकार करते हुए शिक्षा के बारे में कहा है कि– "शरीर मस्तिष्क और आत्मा का उचित एवं सामंजस्यपूर्ण मिश्रण पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए आवश्यक है और शिक्षा ही सच्ची व्यवस्था का आधार है।"[109]

आज भी समाज को अपनी स्थिति के लिए गुरू से सर्वाधिक अपेक्षा है। भारत की आवाज में ए0पी0जे अब्दुल कलाम जी शिक्षा के कर्त्तव्य के विषय में लिखते हैं– "शिक्षा से मानव का व्यक्तित्व सम्पूर्ण, विनम्र और संसार के लिए उपयोगी बनता है। सही शिक्षा से मानवीय गरिमा, स्वाभिमान और विश्वन्बंधुत्व में बढ़ोत्तरी होती है। अंततः शिक्षा का उद्देश्य है– सत्य की खोज।

इस खोज का केन्द्र अध्यापक होता है, जो अपने विद्यार्थियों को शिक्षा के माध्यम से जीवन में और व्यवहार में सच्चाई की शिक्षा देता है। छात्रों को जो भी कठिनाई होती है, जो भी जिज्ञासा होती है, जो वे जानना चाहते हैं, उन सबके लिए वे अध्यापक पर ही निर्भर रहते हैं। यदि शिक्षक के मार्ग दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा को उसके वास्तविक अर्थ में ग्रहण कर मानवीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रसार करता है तो मौजूदा 21वीं सदी में दुनिया काफी सुन्दर हो जायेगी।"[110]

प्राचीन काल में यूनान, ऐथ्रेन्स, एवं स्पार्टा के मुकाबले भारत कहीं भी पीछें नहीं था, परन्तु आज 21वीं सदी में हम इस क्षेत्र में पिछड़ रहे हैं तभी तो भारतीय छात्रों को विदेशों का मुंह देखना पड़ रहा है। असत्य एवं अधर्म समाज में सदैव से व्याप्त रहे हैं किन्तु आत्मोन्नति के लिए स्वाध्याय से प्रमाद न करने की बात प्राचीन समय में कही गयी है। आज स्वाध्याय की प्रवृत्ति न अधिकांश गुरूओं में रह गयी है न शार्टकट वाले शिष्यों में। प्राचीन संस्कृति हमारे लिए धरोहर है। भारतीय वेद दुनिया के सबसे प्राचीन एवं धार्मिक ग्रन्थ हैं जिसकी वकालत गांधी, विनोबा जैसे महापुरूषों ने की है। उस समय आश्रम शिक्षा पद्धति में बहुआयामी ज्ञान की परम्परा थी जैसे धार्मिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, भाषा सम्बन्धी शिक्षा सामाजिक शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा, कलात्मक शिक्षा एवं शारीरिक शिक्षा आदि। परन्तु आज हम उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक केन्द्र बनने में बहुत पीछे हैं। स्मृतिकालीन शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम जी लिखते है–"सूचना प्रौद्योगिकी में प्रगति से दुनिया सिमट गयी है। दुनिया की वास्तविक जटिल समस्याओं के निदान के लिए दुनिया के वैज्ञानिकों के बीच तालमेल होना अनिवार्य है। प्राचीनकाल में भारत को शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान और दर्शन का गढ़ माना जाता था, किन्तु कुछ दशकों से भारत के वैज्ञानिकों का रूख पश्चिमी देशों की ओर हो गया है। हमें भारत को विज्ञान और अनुसंधान के क्षेत्र में श्रेष्ठता का केन्द्र बनाने के लिए और श्रम करना होगा।"[111]

आज जिस तरह की और जिस तरह से शिक्षा भारत के छात्र–छात्राओं को दी जा रही है, उससे देष–प्रेम और राष्ट्रीयता का संस्कार नहीं पनप सकता, हा इतना जरूर हैं कि इंजीनियर, डाक्टर जैसे अनेकों डिग्री धारक पैदा हो रहे हैं। भारत की जो वास्तविक सभ्यता और संस्कृति है, उसका आज की शिक्षा से कोई सरोकार नहीं है। यही कारण है कि आज षिक्षित मनुष्य में अपने देष के गौरव के प्रति किंचित मात्र भी अभिमान नहीं होता। उसमें तो बस विदेषी चकाचौंध भरी दुनिया में रहने तथा भौतिक सुखों के पीछे भागने की चाह बनी रहती है। प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक षिक्षा–प्रणाली को छोड़कर पूर्णरूप से प्राचीन पद्धति को अपनाया जाये या दोनों के मेल से बनी शिक्षा प्रणाली अपनायी जाये। स्वातन्त्र्योत्तर काल में षिक्षा की कटु आलोचना तो हुयी परन्तु उसका प्रारूप क्या होना चाहिए इस पर अभी तक ठोस विचार नहीं आये हैं। शिक्षा का महत्व व्यक्ति की स्मरण शक्ति के विकास तक ही न होकर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में निहित है। शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिकता का विकास करना नहीं है वरन् व्यक्ति की आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना है अतः हमें प्राचीन षिक्षा पद्धति के इन गुणों को वर्तमान में भी अपनाना ही पड़ेगा जो मनुष्य में सहयोग, श्रमप्रियता, रचनात्मकता, बौद्धिक चैतन्य, वैचारिक स्पष्टता आदि गुणों को लाता है, तभी यह वर्तमान शिक्षा सफल एवं सच्चरित्र नागरिक बना सकती है।

स्पष्ट है कि शिक्षा में मानव जीवन को उच्च और उदार बनाने के लिए वास्तविक दीक्षा दी जाती थी। छात्र–छात्राएं आध्यात्मिक षिक्षा के साथ–साथ अपने आप में जीविकों पार्जन की क्षमता भी रखते थे। इस कर्तव्य परायणता के

फलस्वरूप भारत ज्ञान का वितरण करता था। भारत ज्ञानसूर्य बन चुका था। काल चक्र के प्रत्यावर्तन से कालांतर में भारत अनेक उथल–पुथल और राजनीतिक संघर्षों का केन्द्र बना और धीरे–धीरे उसकी प्राचीन आदर्श पद्धति का ह्रास होते–होते लोप हो गया। अतीत कालीन भारतीय शैक्षिणिक पद्धति की उत्कृष्टता इससे स्पष्ट हो जाती है कि उस काल में जिन्होंने भी उच्च स्तर तक की शिक्षा प्राप्त की थी, वे आज 'इतिहास पुरूष' की संज्ञा और अलंकरण प्राप्त कर चुके हैं। आज पूरे वातावरण में व्यभिचार, भ्रष्टाचार, धन लोलुपता, स्वार्थ की भावना प्रबल है। 'एकोऽम् द्वितीयोनास्ति' की भावना मानव मस्तिष्क पर कब्जा कर लिया है। अगर हमको इन सबसे बचना है और स्वस्थ वातावरण का सृजन करना है तो हमें पुनः प्राचीन शिक्षा पद्धति के महत्व को समझना पड़ेगा।

आधुनिकता की दृष्टि से देखें तो सामयिक संदर्भों में मूल्यहीनता एवं साम्प्रदायिक विद्वेष के परिणामस्वरूप जिस विसंगत स्थिति को हम चतुर्दिक् देखते हैं साथ ही व्यवस्था की उसके प्रति कैसी निर्लज्ज तटस्थता देखने को मिलती है तथा जिसके कारण वैश्विक स्तर पर जन–सामान्य का जीवन एक दहशत भरी कहानी हो गया है। मूल्य हीनता ने जीवन क्षेत्र में जिन बीजों को बोया है, उससे उगे विष – वृक्षों से लिपटे नागों ने मनुष्य के उल्लास को पूर्णतः डँस लिया है। जब संवेदनाएँ पथराने लगी हों और सम्बन्ध एक–दूसरे को प्रवंचित करने के उपकरण बनकर रह गये हों और इन सबके ऊपर जीवन के वरेण्य मूल्यों को अस्वीकार और अपदस्थ कर दिया गया हो तब ऐसी स्थिति में शिक्षा ही जनसंचार एवं जनक्रांति का माध्यम बनायी जानी चाहिए और इसके लिए प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा में परिवर्तन आवश्यक है। नैतिक शिक्षा के विषय में स्मृतिकाल की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि भारत की पहचान विश्व गुरू के रूप में थी। कतिपय विपरीत परिस्थितियों ने उस छवि को धूमिल कर दिया है। आधुनिक 21वीं सदी में हमें अपनी पहचान फिर से बनानी होगी। सुशिक्षित सुसमृद्ध भारत का सपना साकार करने के लिये समस्त चुनौतियों को स्वीकार करना होगा। निष्कर्षतः महात्मा गाँधी के शब्दों में कहें तो शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जो बालक एवं मनुष्य के शरीर, आत्मा एवं मन का सर्वांगींण विकास कर सके।''स्वाभाविक है क्योंकि आज की शिक्षा छात्र–छात्राओं को विषयगत दक्षता तो प्रदान कर सकती है, परन्तु उनको एक आदर्श नागरिक बनाने का दावा नहीं कर सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नैतिक शिक्षा एवं नागरिक बोध : डॉ0 धनंजय जोशी, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2007, प्राक्कथन से
2. नैतिक शिक्षा एवं नागरिक बोध : डॉ0 धनंजय जोशी, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ0 3,4
3. मनृस्मृति, 1/108
4. मनुस्मृति, 221
5. धृतिःक्षमा ..... लक्षणम्।। मनृस्मृति, 6/92
6. नैतिक शिक्षा एवं नागरिक बोध : डॉ0 धनंजय जोशी, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ0 5
7. नैतिक शिक्षा एवं नागरिक बोध : डॉ0 धनंजय जोशी, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ0 6
8. कठोपानिषद– 2/3/19
9. तैत्तिरीय उपनिषद–शीक्षावल्ली–3 अनुवाक–1

10. तैत्तिरीय उपनिषद शीक्षावल्ली–3 अनुवाद–11
11. प्रतिवेदं ..... षोडशे।।–याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/36
12. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/22–24
13. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/25/27
14. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/28–29
15. श्रीमद्भागवत्, ब्रह्मचर्य आश्रम, श्लोक–6
16. डॉ0 लीलाधर जोशी, महाभारत में वर्ण–व्यवस्थाः एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ0सं0 198–199
17. याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. ऊषा गुप्ता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली–7, –147
18. याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. ऊषा गुप्ता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली–7, पृ.–149
19. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/50
20. मनुस्मृति 6/88
21. षट्विंशदान्दिकचर्य ..... ग्रहणन्तिकमेव वा।। मनुस्मृति, 3/1
22. वसीत चर्मवीरं ..... श्मनुलोमनखानि च ।। मनुस्मृति, 6/6
23. स्वाध्याये ..... सर्वभूतानुकम्पकः।। मनुस्मृति, 6/8
24. वेद प्रदानादाचार्य ..... किचिदाभैज्जबन्धनात्।। मनु0, 2/171
25. चोदितो ..... हितेषु च।। मनु0, 2/191 प्रतिश्रवणसंभाषे ..... परामुखम्।। मनुस्मृति, 2/199
26. उपनीय ..... प्रचक्षते।। मनु0, 2.140
27. एकदेशं ..... उच्चते।। मनु0, 2. 141
28. निषेकादीनि ..... गुरूरूच्यते।। मनु0, 2.142
29. (क) स गुरूर्यः ..... उहाहृतः।। एकदेशमुपाध्यायः0।। 1.34–35 (ख) उपनीय ..... वेदाङ्.गानि।। वशिष्ठ0 3. 24–25 (ग) उपनीय ..... उदाहृतः।। बृहस्पतिसंस्कार0 222
30. कृतिका' अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका – सं0 वीरेन्द्र सिंह यादव– जनवरी–जून–2009 पृ0 34
31. श्रीमद् भगवद्गीता गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
32. आचार्यों ..... मूर्तिरात्मनः।। मनु0 ,2.226
33. तयोनित्यं ..... समाप्यते।। मनु0, 2.228
34. उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।। मनु0, 2.146
35. उपाध्यायान् ..... गौरवेणातिरिच्यते।। मनु0 2.145
36. आचार्यस्त्वस्य ..... साऽजराऽमरा।। मनु0, 2.148
37. विप्राणां ..... वीर्यतः। मनु0, 2.155
38. अज्ञो ..... मन्त्रदम्।। मनु0, 2. 153
39. न हायनैर्न ..... महान्।। मनु0, 2. 154
40. अल्पं ..... तोपक्रियया तया।। मनु0, 2.149
41. मनु0, 2.171

42. आचार्यः .....कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्।। ना0 मनु0, 5.16

43. शिक्षयन्तमदुष्टं ..... सोऽर्हति।। ना0 मनु0, 5.17

44. ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः ..... घारयेत्।। वृ0 हा0, 8.250

45. वेद–पदानापदाचार्य ..... मौञ्जिवन्धनात्।। मनुस्मृति, 2/171

46. शय्यासनेऽध्याचरिते ..... प्रत्युत्थायाभ्विादयेत्।। मनुस्मृति, 2/119

47. अध्येष्माणं ..... चारमेत्। मनुस्मृति, 2/73

48. ब्रह्मणः ..... विशीर्यति। मनुस्मृति, 2/84

49. मनुस्मृति, 2/191

50. मनुस्मृति, 2/192

51. मनुस्मृति, 2/196

52. ततोऽभिवादयेद् ..... ब्रुवन्।। याज्ञ0, 1.26

53. अभिवादनशीलस्य ..... बलम्।। मनु0, 2. 121

54. "तद्विद्धि ..... सेवया।" श्रीमद् भगवद्गीता– अध्याय– 4, श्लोक–34

55. तैत्तिरीयोपनिषद, शीक्षावल्ली– पृ0 70

56. एकदेशं ..... उच्चयते।। मनु0, 2.141

57. भृतकाध्यापको .....तथा।। याज्ञ0, 3. 235

58. मिताक्षरा याज्ञ0, 2.235

59. याज्ञ0, 3.42; मनु0, 10.116

60. आवृतानां ..... पादितम्।। याज्ञ0 1. 315,गौतम0 10.9–12

61. मनु0, 1.243–244

62. मनु0, 2.234

63. इमं ..... समश्नुते।। मनु0, 2. 233

64. शंख0, 5.9

65. ल0 आश्व0, 10.39, 41

66. बौधा0, 8.2

67. गौतम अध्याय– 2

68. विद्यान्ते ..... स्नानम्।। गौतम0 अध्याय–2

69. दद्याद् ..... दक्षिणाम्।ल0 आश्व0 10.42

70. गुरूदारे ..... वृत्तिमाचरेत्।। मनु0 2.247, श्रेयः ..... गुरूयोषितः।। औश0 3.27

71. गुरूपत्नी ..... विजानता।। मनु0 2.212, औशनस0 3. 29–30

72. मातृष्वसा ..... गुरूभार्यया।। औश0 3.31

73. निरूक्त ,2.4

74. विद्या ब्राह्मणमेत्याह..... निधिपायाप्रमादिने।। मनु0, 2.114–115

75. आचार्यपुत्रः ..... दश धर्मतः।। मनु0, 2.109

76. कृतज्ञा.....शक्तासज्ञानवित्ताः।। याज्ञ0, 1.28

77. असूयकाय ..... वीर्यवत्तमा। मनु0, 2.114

78. धर्माथो ..... बीजमिवोषरे।। मनु0, 2.112

79. मनु0, 2.111–116

80. अध्यापनं ..... वर्जयेत।। ल0ह0 1.19–21

81. एवमाचार ..... विनिर्दिशेत्।। औश 3.33–34

82. स्मृतिहीनाय ..... दत्तं कुलविनाशनम्।। ला0हा0 1.23

83. अधीत्य ..... शर्वरी।। बृह0 संस्कार0 227

84. शिष्येम्यश्च प्रवक्तव्यं..... द्विजोत्तम।। अत्रि संहिता–1.7–8

85. तपोविशिषैर्विविधैर्व्रतैश्च ..... द्विजन्मना।। मनु0, 2.165

86. मनु0, 2.166–167

87. योऽनधीत्य ..... सान्वयः।। मनु0, 2.168

88. यज्ञानां ..... परः।। याज्ञ0, 1. 40

89. वेदानधीत्य ..... गृहस्थाश्रमावसेत्।। मनु0, 3.2

90. द्वादशवर्षण्येकैकवेदे ..... चरेत्0।। गौतम0 2.51, याज्ञ0 1.36

91. मनु0 2.175–198

92. मनु0 2.219–220

93. मनु 2.177–181, 199, 200, गौतम0 2. 13–29 याज्ञ0 1.33 औश0 3.2–28

94. आधुनिक शिक्षा : एक आलोचनात्मक विश्लेषण, उद्धृत शैक्षिक संकल्प – वर्ष 6 अंक–6, पृ0 10–11।

95. अथर्ववेद, 7/16/1

96. ऋग्वेद, 10/182/3

97. ऋग्वेद, 1/6/3

98. ऋग्वेद, 10/53/6

99. यजुर्वेद, 17/74

100. यजुर्वेद, 1/6

101. अथर्ववेद, 19/11/2

102. यजुर्वेद ,40/41 ईशावास्योपनिषद मन्त्र 11

103. यजुर्वेद, 40/14 ईशावास्योपनिषद मन्त्र 14 मुण्डकोपनिषद् 1/1/4,5

104. अथर्ववेद, 19/41/1

105. रामगोपाल शर्मा, 'उच्च शिक्षा पत्रिका', यू. जी. सी. नई दिल्ली, वर्ष 6 अंक 2, ग्रीष्म 1998 , पृ0 227

106. सुरेश कुमार बत्रा, 'सबके लिए शिक्षा' भारतीय आधुनिक शिक्षा, एन0 सी0 ई0 आर0 की0 जुलाई 1999, पृ0 54

107. पं0 विद्यानिवास मिश्र, 'अध्यापन : भारतीय दृष्टि', एन0 सी0 टी0 ई0 नई दिल्ली एन0 सी0 टी0 ई0, पृ09

108. निबन्ध सागर–पृथ्वीनाथ पाण्डेय– पृ0– 212।

109. शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त –डॉ0 रामसकल पाण्डेय ,पृ0 10

110. दैनिक जागरण – 5 सितम्बर 2010– पृ0 – 13

111. दैनिक जागरण– 5 सितम्बर 2010– पृ0 13

Copyright © 2014, Dr. Mamta. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.